सामाजिक विज्ञान

भारत और समकालीन विश्व-2

कक्षा 10 के लिए इतिहास की पाठ्यपुस्तक

1067

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्
NATIONAL COUNCIL OF EDUCATIONAL RESEARCH AND TRAINING

प्रथम संस्करण
अप्रैल 2007 चैत्र 1929

पुनर्मुद्रण
फ़रवरी 2008 माघ 1929
जनवरी 2009 माघ 1930
जनवरी 2010 माघ 1931
जनवरी 2011 माघ 1932
जनवरी 2012 माघ 1933
जनवरी 2013 माघ 1934
नवंबर 2013 कार्तिक 1935
दिसंबर 2014 पौष 1936
फ़रवरी 2016 माघ 1937
दिसंबर 2016 पौष 1938
दिसंबर 2017 पौष 1939
फ़रवरी 2019 फाल्गुन 1940

PD 75T RSP

© राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, 2007

₹ ???.00

एन.सी.ई.आर.टी. वाटरमार्क 80 जी.एस.एम. पेपर पर मुद्रित।

प्रकाशन प्रभाग में सचिव, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, श्री अरविंद मार्ग, नयी दिल्ली 110 016 द्वारा प्रकाशित तथा टेन प्रिंटर्स इंडिया प्रा. लि., 44 किमी. माइल स्टोन, नेशनल हाइवे 10, रोहतक रोड, गांव रोहाद, ज़िला झज्जर, हरियाणा द्वारा मुद्रित।

ISBN 81-7450-712-4

सर्वाधिकार सुरक्षित

- प्रकाशक की पूर्व अनुमति के बिना इस प्रकाशन के किसी भाग को छापना तथा इलेक्ट्रॉनिकी, मशीनी, फोटोप्रतिलिपि, रिकॉर्डिंग अथवा किसी अन्य विधि से पुन: प्रयोग पद्धति द्वारा उसका संग्रहण अथवा प्रसारण वर्जित है।
- इस पुस्तक की बिक्री इस शर्त के साथ की गई है कि प्रकाशक की पूर्व अनुमति के बिना यह पुस्तक अपने मूल आवरण अथवा जिल्द के अलावा किसी अन्य प्रकार से व्यापार द्वारा उधारी पर, पुनर्विक्रय या किराए पर न दी जाएगी, न बेची जाएगी।
- इस प्रकाशन का सही मूल्य इस पृष्ठ पर मुद्रित है। रबड़ की मुहर अथवा चिपकाई गई पर्ची (स्टिकर) या किसी अन्य विधि द्वारा अंकित कोई भी संशोधित मूल्य गलत है तथा मान्य नहीं होगा।

एन सी ई आर टी के प्रकाशन प्रभाग के कार्यालय

एन.सी.ई.आर.टी. कैंपस
श्री अरविंद मार्ग
नयी दिल्ली 110 016 फोन : 011-26562708

108, 100 फीट रोड
हेली एक्सटेंशन, होस्डेकेरे
बनाशंकरी III स्टेज
बेंगलुरु 560 085 फोन : 080-26725740

नवजीवन ट्रस्ट भवन
डाकघर नवजीवन
अहमदाबाद 380 014 फोन : 079-27541446

सी.डब्ल्यू.सी. कैंपस
निकट: धनकल बस स्टॉप पनिहटी
कोलकाता 700 114 फोन : 033-25530454

सी.डब्ल्यू.सी. कॉम्प्लैक्स
मालीगांव
गुवाहाटी 781 021 फोन : 0361-2674869

प्रकाशन सहयोग

अध्यक्ष, प्रकाशन प्रभाग : *एम. सिराज अनवर*
मुख्य संपादक : *श्वेता उप्पल*
मुख्य उत्पादन अधिकारी : *अरुण चितकारा*
मुख्य व्यापार प्रबंधक : *अबिनाश कुल्लू*
संपादक : *नरेश यादव*
उत्पादन सहायक : *ओम प्रकाश*

आवरण, सज्जा एवं चित्र
पार्थिव शाह
सहयोगी– *श्रबोणी रॉय तथा शिवराज पात्र*

नक़्शानवीसी
के. वर्गीस

© NCERT not to be republished

आमुख

राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा (2005) सुझाती है कि बच्चों के स्कूली जीवन को बाहर के जीवन से जोड़ा जाना चाहिए। यह सिद्धांत किताबी ज्ञान की उस विरासत के विपरीत है जिसके प्रभाववश हमारी व्यवस्था आज तक स्कूल और घर के बीच अंतराल बनाए हुए है। नयी राष्ट्रीय पाठ्यचर्या पर आधारित पाठ्यक्रम और पाठ्यपुस्तकें इस बुनियादी विचार पर अमल करने का प्रयास हैं। इस प्रयास में हर विषय को एक मज़बूत दीवार से घेर देने और जानकारी को रटा देने की प्रवृत्ति का विरोध शामिल है। आशा है कि ये कदम हमें राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1986) में वर्णित बाल-केंद्रित व्यवस्था की दिशा में काफ़ी दूर तक ले जाएँगे।

इस प्रयत्न की सफलता अब इस बात पर निर्भर है कि स्कूलों के प्राचार्य और अध्यापक बच्चों को कल्पनाशील गतिविधियों और सवालों की मदद से सीखने और अपने अनुभव पर विचार करने का अवसर देते हैं। हमें यह मानना होगा कि यदि जगह, समय और आज़ादी दी जाए तो बच्चे बड़ों द्वारा सौंपी गई सूचना-सामग्री से जुड़कर और जूझकर नए ज्ञान का सृजन करते हैं। शिक्षा के विविध साधनों व स्रोतों की अनदेखी किए जाने का प्रमुख कारण पाठ्यपुस्तक को परीक्षा का एकमात्र आधार बनाने की प्रवृत्ति है। सर्जना और पहल को विकसित करने के लिए ज़रूरी है कि हम बच्चों को सीखने की प्रक्रिया में पूरा भागीदार मानें और बनाएँ, उन्हें ज्ञान की निर्धारित खुराक का ग्राहक मानना छोड़ दें।

ये उद्देश्य स्कूल की दैनिक ज़िंदगी और कार्यशैली में काफ़ी फेरबदल की माँग करते हैं। दैनिक समय-सारणी में लचीलापन उतना ही ज़रूरी है जितना वार्षिक कैलेण्डर के अमल में चुस्ती, जिससे शिक्षण के लिए नियत दिनों की संख्या हकीकत बन सके। शिक्षण और मूल्यांकन की विधियाँ भी इस बात को तय करेंगी कि यह पाठ्यपुस्तक स्कूल में बच्चों के जीवन को मानसिक दबाव तथा बोरियत की जगह खुशी का अनुभव बनाने में कितनी प्रभावी सिद्ध होती है। बोझ की समस्या से निपटने के लिए पाठ्यक्रम निर्माताओं ने विभिन्न चरणों में ज्ञान का पुनर्निर्धारण करते समय बच्चों के मनोविज्ञान एवं अध्यापन के लिए उपलब्ध समय का ध्यान रखने की पहले से अधिक सचेत कोशिश की है। इस कोशिश को और गहराने के यत्न में यह पाठ्यपुस्तक सोच-विचार और विस्मय, छोटे समूहों में बातचीत एवं बहस और हाथ से की जाने वाली गतिविधियों को प्राथमिकता देती है।

एन.सी.ई.आर.टी. इस पुस्तक की रचना के लिए बनाई गई पाठ्यपुस्तक निर्माण समिति के परिश्रम के लिए कृतज्ञता व्यक्त करती है। परिषद् सामाजिक विज्ञान सलाहकार समूह के अध्यक्ष, प्रोफ़ेसर हरि वासुदेवन, इतिहास विभाग, कलकत्ता विश्वविद्यालय, कोलकाता एवं इतिहास पाठ्यपुस्तक समिति के मुख्य सलाहकार, प्रोफ़ेसर नीलाद्रि भट्टाचार्य, इतिहास अध्ययन केंद्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नयी दिल्ली की विशेष आभारी है। इस पाठ्यपुस्तक के निर्माण में कई शिक्षकों ने योगदान दिया; इस योगदान को संभव बनाने के लिए हम उनके प्राचार्यों के आभारी हैं। हम उन सभी संस्थाओं और संगठनों के प्रति कृतज्ञ हैं जिन्होंने अपने संसाधनों, सामग्री और सहयोगियों की मदद लेने में हमें उदारतापूर्वक सहयोग दिया। हम माध्यमिक एवं उच्च शिक्षा विभाग, मानव

© NCERT not to be republished

संसाधन विकास मंत्रालय द्वारा प्रोफ़ेसर मृणाल मीरी एवं प्रोफ़ेसर जी.पी. देशपांडे की अध्यक्षता में गठित निगरानी समिति (मॉनिटरिंग कमेटी) के सदस्यों को अपना मूल्यवान समय और सहयोग देने के लिए धन्यवाद देते हैं। व्यवस्थागत सुधारों और अपने प्रकाशनों में निरंतर निखार लाने के प्रति समर्पित एन.सी.ई.आर.टी. टिप्पणियों एवं सुझावों का स्वागत करेगी जिनसे भावी संशोधनों में मदद ली जा सके।

निदेशक
राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान
और प्रशिक्षण परिषद्

नयी दिल्ली
20 नवंबर 2006

© NCERT
not to be republished

पाठ्यपुस्तक निर्माण समिति

अध्यक्ष, सामाजिक विज्ञान पाठ्यपुस्तक सलाहकार समिति

हरि वासुदेवन, *प्रोफ़ेसर,* इतिहास विभाग, कलकत्ता विश्वविद्यालय, कोलकाता

मुख्य सलाहकार

नीलाद्रि भट्टाचार्य, *प्रोफ़ेसर,* इतिहास अध्ययन केंद्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नयी दिल्ली

सदस्य

उदय कुमार, *प्रोफ़ेसर,* समाज विज्ञान अध्ययन केंद्र, कोलकाता

जी. बालाचंद्रन, *प्रोफ़ेसर,* ग्रेजुएट इंस्टीट्यूट ऑफ़ इंटरनेशनल स्टडीज़, जिनेवा

जानकी नायर, *प्रोफ़ेसर,* समाज विज्ञान अध्ययन केंद्र, कोलकाता

तनिका सरकार, *प्रोफ़ेसर,* ऐतिहासिक अधययन केंद्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नयी दिल्ली

पी.के. दत्ता, *प्रोफ़ेसर,* समाज विज्ञान अध्ययन केंद्र, कोलकाता

बृज तन्खा, *प्रोफ़ेसर,* पूर्वी एशियाई अध्ययन विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय

मोनिका जुनेजा, *प्रोफ़ेसर,* मारिया-गोएप्पेर्ट-मेयर गेस्ट प्रोफ़ेसर, हिस्टोरिचेस सेमिनार, हनोवर विश्वविद्यालय, जर्मनी

रेखा कृष्णन, *हेड ऑफ़ सीनियर स्कूल,* वसंत वैली स्कूल, नयी दिल्ली

रश्मि पालीवाल, एकलव्य, होशंगाबाद

शुक्ला सान्याल, *रीडर,* इतिहास विभाग, कलकत्ता विश्वविद्यालय, कोलकाता

शेखर बंद्योपाध्याय, *प्रोफ़ेसर,* मानवशास्त्र एवं समाज विज्ञान संकाय, वेलिंगटन विक्टोरिया विश्वविद्यालय, न्यूज़ीलैंड

हिंदी अनुवाद

योगेंद्र दत्त, सराय-सी.एस.डी.एस., दिल्ली

रविकान्त, सराय-सी.एस.डी.एस., दिल्ली

संजय शर्मा, *रीडर,* ज़ाकिर हुसैन कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय

सदस्य-समन्वयक

किरण देवेंद्र, *प्रोफ़ेसर,* प्रारंभिक शिक्षा विभाग, एन.सी.ई.आर.टी., नयी दिल्ली।

© NCERT not to be republished

भारत का संविधान

उद्देशिका

हम, भारत के लोग, भारत को एक [1]**[संपूर्ण प्रभुत्व-संपन्न समाजवादी पंथनिरपेक्ष लोकतंत्रात्मक गणराज्य]** बनाने के लिए, तथा उसके समस्त नागरिकों को :

सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक **न्याय,**

विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म

और उपासना की **स्वतंत्रता,**

प्रतिष्ठा और अवसर की **समता**

प्राप्त कराने के लिए,

तथा उन **सब में**

व्यक्ति की गरिमा और [2]**[राष्ट्र की एकता और अखंडता]** सुनिश्चित करने वाली **बंधुता**

बढ़ाने के लिए

दृढ़संकल्प होकर **अपनी इस संविधान सभा में** आज तारीख 26 नवंबर, 1949 ई. को **एतद्द्वारा इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं।**

---

1. संविधान (बयालीसवां संशोधन) अधिनियम, 1976 की धारा 2 द्वारा (3.1.1977 से) ''प्रभुत्व-संपन्न लोकतंत्रात्मक गणराज्य'' के स्थान पर प्रतिस्थापित।
2. संविधान (बयालीसवां संशोधन) अधिनियम, 1976 की धारा 2 द्वारा (3.1.1977 से) ''राष्ट्र की एकता'' के स्थान पर प्रतिस्थापित।

© NCERT not to be republished

आभार

यह पुस्तक बहुत सारे इतिहासकारों, शिक्षकों और शिक्षाविदों की मिली–जुली कोशिशों का नतीजा है। हर अध्याय के लेखन, चर्चा और संशोधन में महीनों का समय लगा है। हम उन सभी के प्रति आभार प्रकट करना चाहते हैं जिन्होंने इन प्रक्रियाओं में हिस्सा लिया।

इस पुस्तक के अध्यायों को बहुत सारे लोगों ने पढ़ा है और महत्त्वपूर्ण बिंदुओं पर अपनी सलाह व मदद दी है। हम निगरानी समिति के सदस्यों को ख़ासतौर से धन्यवाद देना चाहते हैं जिन्होंने अध्यायों के शुरुआती मसौदे पर टिप्पणियाँ दीं। कुमकुम रॉय ने पाठ में कई संशोधन सुझाए, जी. अरुणिमा, गौतम भद्रा, सुप्रिया चौधरी, जयंती चट्टोपाध्याय, संगीता राज, संबुद्ध सेन, लक्ष्मी सुब्रमण्यम, ए.आर. वेंकटचलपति, टी.आर. रमेश बाएरी, सी.एस. वेंकेटेश्वरन और शहाना ने अध्याय 8 में मदद दी। पुरुषोत्तम अग्रवाल ने हिंदी उपन्यास वाला हिस्सा लिखने में मदद दी। न्गुन क्वॉच आन्ह ने अध्याय 3 के लिए वियतनामी पाठों के अनुवादों में मदद दी।

बहुत सारे संस्थानों और व्यक्तियों की उदार सहायता के बिना इस किताब को इतना आर्कषक और पठनीय नहीं बनाया जा सकता था। हम इन सभी के आभारी हैं : दि लाइब्रेरी ऑफ़ कांग्रेस प्रिंट्स एंड फ़ोटोग्राफ़्स डिवीजन; रबीन्द्र भवन फ़ोटो आर्काइव्ज़, विश्वभारती विश्वविद्यालय, शांतिनिकेतन; फ़ोटो आर्काइव्ज़, अमेरिकी दूतावास, नयी दिल्ली; इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केंद्र, नयी दिल्ली; नेशनल मैन्युस्क्रिप्ट मिशन लाइब्रेरी, नयी दिल्ली; सेंटर फ़ॉर स्टडीज़ इन सोशल साइंसेज़, कोलकाता; आशुतोष कलेक्शन ऑफ़ दि नेशनल लाइब्रेरी, कोलकाता; रोजा मुथैया रिसर्च लाइब्रेरी ट्रस्ट, चेन्नई; इंडिया कलेक्शन, इंडिया इंटरनेशनल सेंटर; आर्काइव्ज़ ऑफ़ इंडियन लेबर, वी.वी. गिरी नेशनल इंस्टीट्यूट ऑफ़ लेबर, नयी दिल्ली; फ़ोटो आर्काइव्ज़, यूनिवर्सिटी ऑफ़ वेस्ट इंडीज़, त्रिनिदाद। ज्योतिन्द्र एवं जटा जैन ने सिविक आर्काइव्ज़ में सुरक्षित चित्रों के अपने विशाल भंडार को देखने का हमें भरपूर मौका दिया; पार्थिव शाह ने अपने संग्रह से कई चित्र उपलब्ध कराए। प्रभु महापात्रा ने गिरमिटिया मजदूरों के चित्र दिए; मुज़फ़्फ़र आलम ने शिकागो लाइब्रेरी से सामग्री उपलब्ध कराई; प्रतीक चक्रवर्ती ने केंट विश्वविद्यालय लाइब्रेरी से तसवीरों को स्कैन करके भिजवाया; अनीश वनायक एवं पार्थ शिल ने दिल्ली में फ़ोटो अनुसंधान किया।

परिषद् की ओर से ऋतु शर्मा, सरिता किमोठी, *डी.टी.पी. ऑपरेटर*; मनोज मोहन, यतेन्द्र कुमार यादव, *कॉपी एडीटर* ने अपना पूर्ण योगदान दिया। इतने कम समय में काम पूरा कर देने और पूरी परियोजना में इतनी दिलचस्पी लेने के लिए हम सभी साथियों के प्रति आभार व्यक्त करते हैं।

हमने इस पुस्तक से जुड़े सभी लोगों के प्रति आभार व्यक्त करने का प्रयास किया है। अगर किसी का नाम भूलवश छूट गया हो तो हम उनसे क्षमा चाहते हैं।

श्रेय

फ़ोटोग्राफ़्स एवं तसवीरें

हम निम्नलिखित के प्रति आभार व्यक्त करना चाहते हैं–

संस्थान एवं फ़ोटो आर्काइव्ज़

आर्काइव ऑफ़ इंडियन लेबर, वी.वी. गिरी नेशनल इंस्टीट्यूट ऑफ़ लेबर (अध्याय 4 : 18, 19)
आशुतोष कलेक्शन ऑफ़ द नेशनल लाइब्रेरी, कोलकाता
कलेक्शन ज्योतिन्द्र एवं जटा जैन, सिविक आर्काइव्ज़ (अध्याय 2 : 11, 13, 14; अध्याय 4: 25, 26क, 26ख; अध्याय 5 : 17)
कल्चरल हेरिटेज एडमिनिस्ट्रेशन (सी.एच.ए.) चेओंग्जू एरली प्रिंटिंग म्यूज़ियम, रिपब्लिक ऑफ़ कोरिया (अध्याय 5 : 2क, 2ख)
लाइब्रेरी ऑफ़ कांग्रेस प्रिंट्स एंड फ़ोटोग्राफ़ी डिवीजन (अध्याय 3 : 20; अध्याय 5 : 40)
मैन्युस्क्रिप्ट मिशन कलेक्शन (अध्याय 5 : 14, 15, 16)
फ़ोटो आर्काइव, अमेरिकन लाइब्रेरी, नयी दिल्ली (अध्याय 3 : 21, 23)
फ़ोटो आर्काइव्ज़, यूनिवर्सिटी ऑफ़ वेस्ट इंडीज़, त्रिनिदाद (अध्याय 3 : 14, 15, 16)
पब्लिकेशन डिवीजन, सूचना (अध्याय 2 के फ़ोटोग्राफ़्स के लिए तसवीरें)
रोजा मुथैया रिसर्च लाइब्रेरी ट्रस्ट, चेन्नई

जर्नल्स

दि इलस्ट्रेटेड लंदन न्यूज़ (अध्याय 3 : 4, 6, 7, 8, 9, 11, 12, 13 अध्याय 4 : 4, 5, 6, 8, 12)
इलस्ट्रेटेड टाइम्स (अध्याय 4 : 12)
इंडियन शारिवारी (अध्याय 5 : 18)
ग्राफ़िक (अध्याय 3 : 13)

पुस्तकें

ब्रेमन, जॉन एवं पार्थिव शाह, *वर्किंग द मिल नो मोर* (अध्याय 4 : 21)
द्विवेदी, शारदा एवं राहुल मेहरोत्रा, *बॉम्बे : द सिटी विदिन* (अध्याय 2 : 1)
गोस्वामी, बी.एन., *द वर्ड इज़ सेक्रेड; सेक्रेड इज़ द वर्ड* (अध्याय 5 : 14, 15, 16)
चौधरी, के.एन., *ट्रेड एंड सिविलाइज़ेशन इन दि इंडियन ओशियन* (अध्याय 3 में मानचित्र)
रूहे, पीटर, *गांधी* (अध्याय 2 : 2, 3, 5, 8)

© NCERT not to be republished

परिचय

हम एक ऐसी दुनिया में रहते हैं जहाँ राष्ट्रों की उपस्थिति स्वाभाविक मान ली गई है। हम लोगों को राष्ट्रों से जुड़ा हुआ, एक राष्ट्रीयता का हिस्सा मानकर चलते हैं। हम मानकर चलते हैं कि यह जुड़ाव आदिकाल से चला आ रहा है। हम देशों और राष्ट्रों को एक ही मानते हैं। दोनों शब्दों को पर्यायवाची की तरह देखते हैं। हम देशों को ऐसे एकीकृत भूक्षेत्रों के रूप में देखते हैं जिनकी एक निश्चित अंतर्राष्ट्रीय सीमा, एक सुपरिभाषित भूभाग, एक राष्ट्रीय भाषा और एक केंद्रीय सरकार होती है।

लेकिन अगर हम टाइम कैप्सूल में बैठकर अठारहवीं सदी के मध्य में जा पहुँचें और ऐसे राष्ट्रों को खोजने की कोशिश करें जैसे आज हमें दिखाई देते हैं तो वे हमें नहीं दिखेंगे। अगर हम लोगों से उनकी राष्ट्रीयता के बारे में पूछेंगे, उनकी राष्ट्रीय पहचान के बारे में पूछेंगे तो वे हमारे सवालों को समझ भी नहीं पाएँगे। दरअसल उस समय राष्ट्र अपने आधुनिक रूप में नहीं थे। लोग राजतंत्रों, छोटे-छोटे राज्यों, रियासतों, रजवाड़ों में रहते थे न कि राष्ट्रों में। प्रसिद्ध इतिहासकार एरिक हॉब्सबॉम ने एक बार कहा था कि आधुनिक राष्ट्रों का सबसे बेजोड़ पहलू उनकी आधुनिकता में निहित है। जी हाँ, इसके अस्तित्व का इतिहास 250 साल से पुराना नहीं है।

आधुनिक राष्ट्र किस तरह अस्तित्व में आया? किस तरह लोग खुद को एक राष्ट्र से जुड़ा हुआ मानने लगे?

एक राष्ट्र से जुड़ाव का भाव एक समय के बाद ही विकसित हुआ था। इस पुस्तक के पहले दो अध्यायों (खंड 1) में इसी इतिहास को समझने की कोशिश की गई है। यहाँ आप देखेंगे कि किस तरह यूरोप में राष्ट्रवाद का विचार उपजा, किस तरह भूभागों को एकजुट किया गया और राष्ट्रीय सरकारें बनाई गईं। यह दशकों तक चलने वाली प्रक्रिया थी जिसमें बहुत सारे युद्ध और क्रांतियाँ हुईं, बहुत सारे वैचारिक संघर्ष और राजनीतिक टकराव हुए। यूरोप की चर्चा (अध्याय 1) से हम अपना ध्यान भारत (अध्याय 2) में राष्ट्रवाद के विकास पर केंद्रित करेंगे, जहाँ राष्ट्रवाद का स्वरूप उपनिवेशवाद तथा साम्राज्यवाद विरोधी आंदोलनों से तय हुआ था। आपको यह समझने में मदद मिलेगी कि किस प्रकार औपनिवेशिक देशों में राष्ट्रवाद नाना प्रकार से अस्तित्व में आ सकता है, वहाँ बिलकुल अलग-अलग किस्म के आदर्शों का महिमामंडन हो सकता है और उन्हें अलग-अलग प्रकार की संघर्ष पद्धतियों के लिए प्रयोग किया जा सकता है।

इन अध्यायों में राष्ट्रवाद की कहानी कई स्तरों पर आगे बढ़ेगी। इसमें आपको ज्युसेपे मेत्सिनी और महात्मा गांधी जैसे महान नेताओं के बारे में पढ़ने को मिलेगा। राष्ट्रवाद को हम केवल महत्त्वपूर्ण नेताओं के शब्दों और कृत्यों तथा उनके नेतृत्व में घटी बड़ी व नाटकीय घटनाओं के जरिए नहीं समझ सकते। हमें आम लोगों की आकांक्षाओं और गतिविधियों को भी देखना होगा। देखना होगा कि दैनिक जीवन की छोटी-छोटी घटनाओं में राष्ट्रवाद किस तरह अभिव्यक्त होता है और वह प्रत्यक्षतः भिन्न एवं असंबद्ध सामाजिक आंदोलनों से निर्धारित होता है। राष्ट्रवाद कैसे फैलता है, यह समझने के लिए हमें न केवल यह जानना पड़ेगा कि नेता क्या कहते थे बल्कि यह भी समझना होगा कि लोग उनके शब्दों को कैसे समझते व अपनाते थे। अगर हम इस बारे में जानना चाहते हैं कि लोग कैसे एक राष्ट्र के साथ जुड़कर देखने लगे तो हमें उस प्रक्रिया की महत्त्वपूर्ण राजनीतिक घटनाओं को ही नहीं बल्कि इसको भी समझना होगा कि राष्ट्रवादी भावनाओं को कला व साहित्य, गीत और कथाओं के जरिए कलाकारों और लेखकों ने किस तरह पोसा था।

खंड II में हम अर्थव्यवस्थाओं और आजीविकाओं पर विचार करेंगे। पिछले साल आपने चरवाहों और वनवासियों के बारे में पढ़ा था, जिन्हें बीते ज़माने के अवशेषों की तरह देखा जाता है जबकि वास्तव में वे इसी आधुनिक दुनिया का हिस्सा हैं जिसमें हम रहते हैं। इस साल हम उन घटनाओं पर विचार करेंगे

© NCERT not to be republished

जिन्हें आधुनिकता का प्रतीक माना जाता है – वैश्वीकरण और औद्योगीकरण। इस भाग में हम इन बदलावों के इतिहास के विविध आयामों की पड़ताल करेंगे।

अध्याय 4 में आप देखेंगे कि किस तरह भूमंडलीकृत विश्व एक लंबे और जटिल इतिहास से उपजा है। प्राचीन काल से ही तीर्थयात्री, व्यापारी, मुसाफिर अपने साथ सामानों, जानकारियों और दक्षताओं को लिए दूर-दूर तक जाते रहे हैं। उन्होंने विभिन्न समाजों को इस प्रकार एक-दूसरे से जोड़ा है कि अकसर उनके अंतर्विरोधी परिणाम भी सामने आए हैं। खाने की चीजें और पौधों की प्रजातियाँ एक इलाके से दूसरे इलाके में जा पहुँचीं, सूचना और स्वाद बदल गए और बीमारी व मौत का दायरा भी फैल गया। जब पश्चिमी ताकतें 'सभ्यता' का झंडा लिए अफ़्रीका के दूर-दूर इलाकों में जा रही थीं, वहाँ की बेशकीमती धातुओं और दासों को यूरोप और अमेरिका ले जाया जा रहा था। जब वैश्विक बाजार के लिए कैरीबियाई द्वीप समूह के बागानों में कॉफी और गन्ने की खेती की जा रही थी तो इन बागानों के लिए भारत और चीन गिरमिटिया मजदूर भेजे जा रहे थे।

खंड III में आप मुद्रण संस्कृति के इतिहास को पढ़ेंगे। छपी हुई चीजों से घिरे हुए हम लोगों को यह कल्पना करना भी मुश्किल दिखाई पड़ सकता है कि एक जमाने में प्रिंटिंग जैसी चीज होती ही नहीं थी। अध्याय 5 में इस बात पर विचार किया गया है कि किस तरह समकालीन दुनिया का इतिहास छपाई तकनीक के विकास के साथ अभिन्न रूप से जुड़ा रहा है। वहाँ आप देखेंगे कि छपाई ने सूचनाओं और विचारों, बहसों और चर्चाओं, विज्ञापन और प्रचार तथा नाना प्रकार के नए साहित्य के प्रसार को किस तरह संभव बनाया है।

जब हम रोज़मर्रा ज़िंदगी के ऐसे विषयों पर चर्चा करते हैं तो हम इस बात को समझने लगते हैं कि दुनिया की मामूली चीज़ों को समझने में भी इतिहास कितना मददगार हो सकता है।

नीलाद्रि भट्टाचार्य
मुख्य सलाहकार
इतिहास

© NCERT not to be republished

विषय सूची

आमुख *iii*

परिचय *ix*

खण्ड I : घटनाएँ और प्रक्रियाएँ

1. यूरोप में राष्ट्रवाद का उदय 3
2. भारत में राष्ट्रवाद 29

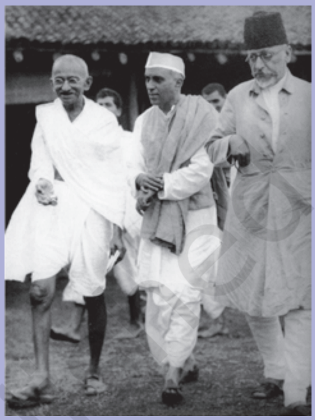

खण्ड II : जीविका, अर्थव्यवस्था एवं समाज

3. भूमंडलीकृत विश्व का बनना 53
4. औद्योगीकरण का युग 79

खण्ड III : रोज़ाना की ज़िंदगी, संस्कृति और राजनीति

5. मुद्रण संस्कृति और आधुनिक दुनिया 105

1067XII

विस्तारित शिक्षा के लिये

आप क्यू आर कोड के माध्यम से निम्नलिखित अध्यायों का उपयोग कर सकते हैं–

- इंडो-चाइना में राष्ट्रवादी आंदोलन
- काम, आराम और जीवन
- उपन्यास, समाज और इतिहास

ये अध्याय पिछली पाठ्यपुस्तक में मुद्रित किए गये थे, वही विस्तारित शिक्षा के लिये डिजिटल मोड में भी उपलब्ध कराये जा रहे हैं।

© NCERT not to be republished

1067CH01

यूरोप में राष्ट्रवाद का उदय

चित्र 1 - फ़्रेडरिक सॉरयू, विश्वव्यापी प्रजातांत्रिक और सामाजिक गणराज्यों का स्वप्न–राष्ट्रों के बीच संधि, 1848

1848 में, एक फ़्रांसिसी कलाकार फ़्रेड्रिक सॉरयू ने चार चित्रों की एक शृंखला बनाई। इनमें उसने सपनों का एक संसार रचा जो उसके शब्दों में 'जनतांत्रिक और सामाजिक गणतंत्रों' से मिल कर बना था। इस शृंखला के पहले चित्र (देखें चित्र 1) में यूरोप और अमेरिका के लोग दिखाए गए हैं – सभी उम्र और सामाजिक वर्गों के स्त्री-पुरुष एक लंबी कतार में स्वतंत्रता की प्रतिमा की वंदना करते हुए जा रहे हैं। आपको याद होगा कि फ़्रांसीसी क्रांति के दौरान कलाकार स्वतंत्रता को महिला का रूप प्रदान किया करते थे। यहाँ भी आप ज्ञानोदय की मशाल को पहचान सकते हैं जो उसके एक हाथ में है और दूसरे में मनुष्य के अधिकारों का घोषणापत्र। प्रतिमा के सामने ज़मीन पर **निरंकुश** संस्थानों के ध्वस्त अवशेष बिखरे हुए हैं। सॉरयू के **कल्पनादर्श** (युटोपिया) में दुनिया के लोग अलग राष्ट्रों के समूहों में बँटे हुए हैं जिनकी पहचान उनके कपड़ों और राष्ट्रीय पोशाक से होती है। स्वतंत्रता की मूर्ति से कहीं आगे, इस जुलूस का नेतृत्व कर रहे हैं संयुक्त राज्य अमेरिका और स्विट्ज़रलैंड, जो तब तक राष्ट्र-राज्य बन चुके थे। फ़्रांस जो क्रांतिकारी तिरंगे से पहचाना जा सकता है, प्रतिमा के पास

नए शब्द

निरंकुशवाद (Absolutism) : ऐसी सरकार या शासन व्यवस्था जिसकी सत्ता पर किसी प्रकार का कोई अंकुश नहीं होता। इतिहास में ऐसी राजशाही सरकारों को निरंकुश सरकार कहा जाता है जो अत्यंत केंद्रीकृत, सैन्य बल पर आधारित और दमनकारी सरकारें होती थीं।

कल्पनादर्श (युटोपिया) : एक ऐसे समाज की कल्पना जो इतना आदर्श है कि उसका साकार होना लगभग असंभव होता है।

गतिविधि

आपकी राय में चित्र 1 किस प्रकार एक कल्पनादर्शी दृष्टि को प्रतिबिंबित करता है?

अभी-अभी पहुँचा है। उसके पीछे जर्मनी के लोग हैं जो काला, लाल और सुनहरा झंडा थामे हैं। यह दिलचस्प है कि जिस समय सॉरयू ने यह छवि निर्मित की, जर्मन लोग तब तक एक संयुक्त राष्ट्र का हिस्सा नहीं बने थे। जो झंडा वे थामे हुए हैं, वह 1848 की उदारवादी उम्मीदों की अभिव्यक्ति है जिनमें अनेक जर्मन-भाषी रियासतों को एक प्रजातांत्रिक संविधान के अंतर्गत एक राष्ट्र-राज्य में गठित करने की चाह थी। जर्मन लोगों के बाद ऑस्ट्रिया, दो सिसिलियों की राजशाही, लॉम्बार्डी, पोलैंड, इंग्लैंड, आयरलैंड, हंगरी और रूस के लोग हैं। ऊपर स्वर्ग से, ईसा मसीह, संत और फ़रिश्ते इस दृश्य पर अपनी नज़रें जमाए हुए हैं। चित्रकार ने उनका इस्तेमाल दुनिया के राष्ट्रों के बीच भाईचारे के प्रतीक के रूप में किया है।

इस अध्याय में ऐसे कई विषय उठाए जाएँगे जिनकी काल्पनिक अभिव्यक्ति सॉरयू ने चित्र 1 में की थी। उन्नीसवीं सदी के दौरान राष्ट्रवाद एक ऐसी ताक़त बन कर उभरा जिसने यूरोप के राजनीतिक और मानसिक जगत में भारी परिवर्तन ला दिये। इन परिवर्तनों से अंततः यूरोप के बहु-राष्ट्रीय वंशीय साम्राज्यों के स्थान पर *राष्ट्र-राज्य* का उदय हुआ। यूरोप में लंबे समय से एक ऐसे *आधुनिक* राज्य की गतिविधियाँ और विचार विकसित हो रहे थे जिसमें स्पष्ट रूप से परिभाषित क्षेत्र पर प्रभुसत्ता एक केंद्रीय शक्ति की थी। लेकिन *राष्ट्र-राज्य* में न केवल उसके शासकों बल्कि उसके अधिकांश नागरिकों में एक साझा पहचान का भाव और साझा इतिहास या विरासत की भावना थी। साझेपन की यह भावना अनंत काल से नहीं थी; यह संघर्षों और नेताओं तथा आम लोगों की सरगर्मियों से निर्मित हुई थी। यह अध्याय उन विविध प्रक्रियाओं पर प्रकाश डालेगा जिनके तहत उन्नीसवीं सदी के यूरोप में राष्ट्र-राज्य और राष्ट्रवाद अस्तित्व में आए।

स्रोत-क

अर्न्स्ट रेनन (Ernst Renan) 'राष्ट्र क्या है?'

फ़्रांसीसी दार्शनिक अर्न्स्ट रेनन (1823-92) ने 1882 में सॉबॉन (Sorbonne) विश्वविद्यालय में दिए एक व्याख्यान में राष्ट्र की अपनी समझ को प्रस्तुत किया। बाद में यह व्याख्यान एक प्रसिद्ध निबंध के रूप में छपा जिसका शीर्षक था (Qu'est-ce qu' une nation?–राष्ट्र क्या हैं?)। इस निबंध में रेनन अन्य लोगों द्वारा प्रस्तावित इस विचार की आलोचना करता है कि राष्ट्र समान भाषा, नस्ल, धर्म या क्षेत्र से बनता है।

एक राष्ट्र लंबे प्रयासों, त्याग और निष्ठा का चरम बिंदु होता है। शौर्य-वीरता से युक्त अतीत, महान पुरुषों के नाम और गौरव – यह वह सामाजिक पूँजी है जिस पर एक राष्ट्रीय विचार आधारित किया जाता है। अतीत में समान गौरव का होना, वर्तमान में एक समान इच्छा, संकल्प का होना, साथ मिल कर महान काम करना और आगे, ऐसे काम और करने की इच्छा – एक जनसमूह होने की यह सब ज़रूरी शर्तें हैं। अतः राष्ट्र एक बड़ी और व्यापक एकता (Large-Scale Solidarity) है... उसका अस्तित्व रोज़ होने वाला **जनमत-संग्रह** है...। प्रांत उसके निवासी हैं; अगर सलाह लिए जाने का किसी का अधिकार है तो वह निवासी ही है, किसी देश का विलय करने या किसी देश पर उसकी इच्छा के विरुद्ध क़ब्ज़ा जमाए रखने में एक राष्ट्र की वास्तव में कोई दिलचस्पी होती नहीं है। राष्ट्रों का अस्तित्व में होना एक अच्छी बात है, बल्कि यह एक ज़रूरत भी है। उनका होना स्वतंत्रता की गारंटी है और अगर दुनिया में केवल एक क़ानून और उसका केवल एक मालिक होता तो स्वतंत्रता का लोप हो जाएगा।

स्रोत

नए शब्द

जनमत-संग्रह : एक प्रत्यक्ष मतदान जिसके ज़रिए एक क्षेत्र के सभी लोगों से एक प्रस्ताव को स्वीकार या अस्वीकार करने के लिए पूछा जाता है।

चर्चा करें

रेनन की समझ के अनुसार एक राष्ट्र की विशेषताओं का संक्षिप्त विवरण दें। उसके मतानुसार राष्ट्र क्यों महत्त्वपूर्ण हैं?

© NCERT not to be republished

1 फ़्रांसीसी क्रांति और राष्ट्र का विचार

राष्ट्रवाद की पहली स्पष्ट अभिव्यक्ति 1789 में फ़्रांसीसी क्रांति के साथ हुई। जैसा कि आपको याद होगा, 1789 में फ़्रांस एक ऐसा राज्य था जिसके संपूर्ण भू-भाग पर एक निरंकुश राजा का आधिपत्य था। फ़्रांसीसी क्रांति से जो राजनीतिक और संवैधानिक बदलाव हुए उनसे प्रभुसत्ता राजतंत्र से निकल कर फ़्रांसीसी नागरिकों के समूह में हस्तांतरित हो गई। क्रांति ने घोषणा की कि अब लोगों द्वारा राष्ट्र का गठन होगा और वे ही उसकी नियति तय करेंगे।

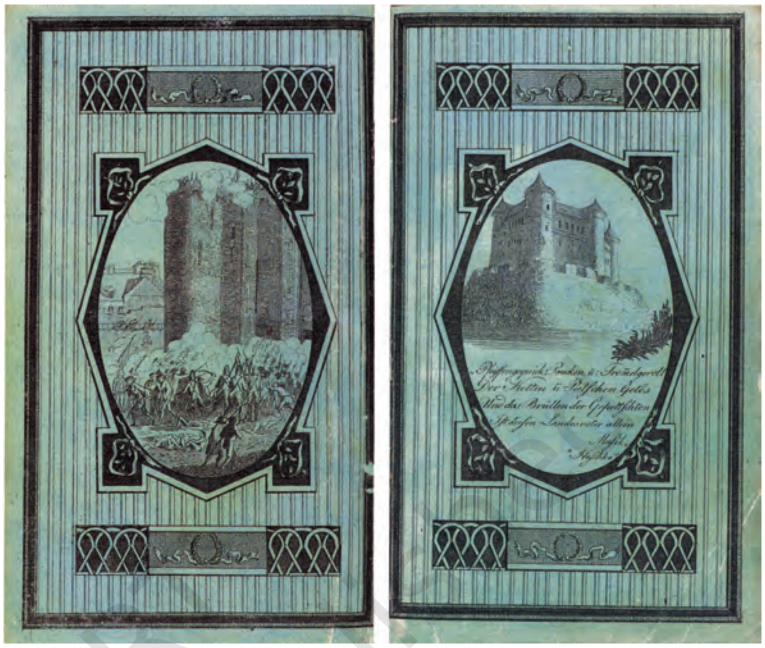

*चित्र 2 – एक जर्मन पंचाँग (या तिथिपत्र) का मुखपृष्ठ जिसे पत्रकार ऐंड्रियास रेबमान (**Rebmann**) ने 1798 में डिज़ाइन किया।*

फ्रेंच बास्टील में क्रांतिकारी भीड़ के प्रवेश के चित्र को उससे मिलते-जुलते क़िले की बग़ल में बनाया गया है। यह क़िला जर्मन प्रांत कैसेल (Kassel) में निरंकुश शासन के गढ़ के रूप में चित्रित है। इस चित्र के साथ एक नारा दिया गया : ''लोगों को अपनी आज़ादी मुट्ठी में कर लेनी चाहिए।'' रेबमान एक पत्रकार था जो मेंज़ नामक शहर में रहता था। वह जर्मन जेकोबिन गुट का सदस्य था।

प्रारंभ से ही फ़्रांसीसी क्रांतिकारियों ने ऐसे अनेक क़दम उठाए जिनसे फ़्रांसीसी लोगों में एक सामूहिक पहचान की भावना पैदा हो सकती थी। पितृभूमि (*la patrie*) और नागरिक (*le citoyen*) जैसे विचारों ने एक संयुक्त समुदाय के विचार पर बल दिया जिसे एक संविधान के अंतर्गत समान अधिकार प्राप्त थे। अतः एक नया फ़्रांसीसी झंडा-तिरंगा (the tricolour) चुना गया जिसने पहले के राजध्वज की जगह ले ली। इस्टेट जेनरल का चुनाव सक्रिय नागरिकों के समूह द्वारा किया जाने लगा और उसका नाम बदल कर नेशनल एसेंबली कर दिया गया। नयी स्तुतियाँ रची गईं, शपथें ली गईं, शहीदों का गुणगान हुआ – और यह सब राष्ट्र के नाम पर हुआ। एक केंद्रीय प्रशासनिक व्यवस्था लागू की गई जिसने अपने भू-भाग में रहने वाले सभी नागरिकों के लिए समान क़ानून बनाए। आंतरिक आयात-निर्यात शुल्क समाप्त कर दिए गए और भार तथा नापने की एकसमान व्यवस्था लागू की गई। क्षेत्रीय बोलियों को हतोत्साहित किया गया और पेरिस में फ़्रेंच जैसी बोली और लिखी जाती थी, वही राष्ट्र की साझा भाषा बन गई।

क्रांतिकारियों ने यह भी घोषणा की कि फ़्रांसीसी राष्ट्र का यह भाग्य और लक्ष्य था कि वह यूरोप के लोगों को निरंकुश शासकों से मुक्त कराए। दूसरे शब्दों में, फ़्रांस यूरोप के अन्य लोगों को राष्ट्रों में गठित होने में मदद देगा। जब फ़्रांस की घटनाओं की ख़बर यूरोप के विभिन्न शहरों में पहुँची तो छात्र तथा शिक्षित मध्य-वर्गों के अन्य सदस्य जैकोबिन क्लबों की स्थापना करने लगे। उनकी गतिविधियों और अभियानों ने उन फ़्रेंच सेनाओं के लिए रास्ता तैयार किया जो 1790 के दशक में हॉलैंड, बेल्जियम, स्विट्ज़रलैंड और इटली के बड़े इलाक़े में घुसीं। क्रांतिकारी युद्धों के शुरू होने के साथ ही फ़्रांसीसी सेनाएँ राष्ट्रवाद के विचार को विदेशों में ले जाने लगीं।

नेपोलियन के नियंत्रण में जो विशाल क्षेत्र आया वहाँ उसने ऐसे अनेक सुधारों की शुरुआत की जिन्हें फ़्रांस में पहले ही आरंभ किया जा चुका था। फ़्रांस में राजतंत्र वापस लाकर नेपोलियन ने निःसंदेह वहाँ प्रजातंत्र को नष्ट

चित्र 3 – वियना कांग्रेस 1815 के बाद का यूरोप।

किया था। मगर प्रशासनिक क्षेत्र में उसने क्रांतिकारी सिद्धांतों का समावेश किया था ताकि पूरी व्यवस्था अधिक तर्कसंगत और कुशल बन सके। 1804 की नागरिक संहिता जिसे आमतौर पर नेपोलियन की संहिता के नाम से जाना जाता है, ने जन्म पर आधारित विशेषाधिकार समाप्त कर दिए थे। उसने क़ानून के समक्ष बराबरी और संपत्ति के अधिकार को सुरक्षित बनाया। इस संहिता को फ़्रांसीसी नियंत्रण के अधीन क्षेत्रों में भी लागू किया गया। डच गणतंत्र, स्विट्ज़रलैंड, इटली और जर्मनी में नेपोलियन ने प्रशासनिक विभाजनों को सरल बनाया, सामंती व्यवस्था को खत्म किया और किसानों को भू-दासत्व और जागीरदारी शुल्कों से मुक्ति दिलाई। शहरों में भी कारीगरों के श्रेणी-संघों के नियंत्रणों को हटा दिया गया। यातायात और संचार-व्यवस्थाओं को सुधारा गया। किसानों, कारीगरों, मज़दूरों और नए उद्योगपतियों ने नयी-नयी मिली आज़ादी चखी। उद्योगपतियों और ख़ासतौर पर समान बनाने वाले लघु उत्पादक यह समझने लगे कि एकसमान क़ानून,

चित्र 4 - ज़्वेब्रकेन, ज़र्मनी में, स्वतंत्रता के वृक्ष का रोपण।
जर्मन चित्रकार कार्लकैस्पर फ़्रिट्ज़ द्वारा बनाए गए इस रंगीन चित्र का विषय फ़्रेंच सेनाओं द्वारा ज़्वेब्रकेन शहर पर क़ब्ज़ा है। अपनी नीली, सफ़ेद और लाल पोशाकों से पहचाने जाने वाले फ़्रांसीसी सैनिकों को दमनकारियों के रूप में प्रस्तुत किया है जो एक किसान की गाड़ी (बाएँ) छीनते हुए कुछ युवा महिलाओं को तंग कर रहे हैं (बीच का अग्रभाग) और एक किसान को घुटने टेकने पर मजबूर कर रहे हैं। स्वतंत्रता के वृक्ष पर लगाई जा रही पट्टी पर जर्मन में लिखा है, उसका अनुवाद है : ''हमसे आज़ादी और समानता ले लो - यह मानवता का आदर्श रूप है।'' यह फ़्रांसीसियों के इस दावे पर व्यंग्य है कि वे जिन इलाक़ों में जाते थे वहाँ राजतंत्र का विरोध कर मुक्तिदाता बन जाते थे।

मानक भार तथा नाप और एक राष्ट्रीय मुद्रा से एक इलाक़े से दूसरे इलाक़े में वस्तुओं और पूँजी के आवागमन में सहूलियत होगी।

लेकिन जीते हुए इलाक़ों में स्थानीय लोगों की फ़्रांसीसी शासन के प्रति मिली-जुली प्रतिक्रियाएँ थीं। शुरुआत में अनेक स्थानों जैसे हॉलैंड और स्विट्ज़रलैंड और साथ ही कई शहरों जैसे – ब्रसेल्स, मेंज़, मिलान और वॉरसा में फ़्रांसीसी सेनाओं का स्वतंत्रता का तोहफ़ा देने वालों की तरह स्वागत किया गया। मगर यह शुरुआती उत्साह शीघ्र ही दुश्मनी में बदल गया जब यह साफ़ होने लगा कि नयी प्रशासनिक व्यवस्थाएँ राजनीतिक स्वतंत्रता के अनुरूप नहीं थीं। बढ़े हुए कर, सेंसरशिप और बाक़ी यूरोप को जीतने के लिए फ़्रेंच सेना में जबरन भर्ती से हो रहे नुकसान प्रशासनिक परिवर्तनों से मिले फ़ायदों से कहीं ज़्यादा नज़र आने लगे।

चित्र 5 – राइनलैंड का डाकिया लाइप्सिग से आते हुए सब कुछ गँवा देता है।
यहाँ नेपोलियन को 1813 में लाइप्सिग की लड़ाई हारकर फ़्रांस लौटते हुए डाकिए के रूप में दर्शाया गया है। उसके झोले से गिरती हर चिट्ठी पर उन भूभागों के नाम लिखे हैं जिन्हें अब वह हार चुका है।

2 यूरोप में राष्ट्रवाद का निर्माण

अगर आप मध्य अठारहवीं सदी के यूरोप के नक़्शे को देखें तो उसमें वैसे 'राष्ट्र-राज्य' नहीं मिलेंगे जैसे कि आज हैं। जिन्हें आज हम जर्मनी, इटली और स्विट्ज़रलैंड के रूप में जानते हैं वे तब राजशाहियों, डचियों (duchies) और कैंटनों (cantons) में बँटे हुए थे, जिनके शासकों के स्वायत्त क्षेत्र थे। पूर्वी और मध्य यूरोप निरंकुश राजतंत्रों के अधीन थे और इन इलाक़ों में तरह-तरह के लोग रहते थे। वे अपने आप को एक सामूहिक पहचान या किसी समान संस्कृति का भागीदार नहीं मानते थे। अकसर वे अलग-अलग भाषाएँ बोलते थे और विभिन्न जातीय समूहों के सदस्य थे। उदाहरण के तौर पर, ऑस्ट्रिया-हंगरी पर शासन करने वाला हैब्सबर्ग साम्राज्य कई अलग-अलग क्षेत्रों और जनसमूहों को जोड़ कर बना था। इसमें ऐल्प्स के टिरॉल, ऑस्ट्रिया और सुडेटेनलैंड जैसे इलाक़ों के साथ-साथ बोहेमिया भी शामिल था जहाँ के कुलीन वर्ग में जर्मन भाषा बोलने वाले ज़्यादा थे। हैब्सबर्ग साम्राज्य में लॉम्बार्डी और वेनेशिया जैसे इतालवी-भाषी प्रांत भी शामिल थे। हंगरी में आधे लोग मैग्यार भाषा बोलते थे जबकि बाक़ी लोग विभिन्न बोलियों का इस्तेमाल करते थे। गालीसिया में कुलीन वर्ग पोलिश भाषा बोलता था। इन प्रभावशाली समूहों के अलावा, हैब्सबर्ग साम्राज्य की सीमा रेखाओं के भीतर भारी संख्या में खेती करने वाले लोग अधीन अवस्था में रहते थे- जैसे उत्तर में बोहेमियन और स्लोवाक, कार्निओला में स्लोवेन्स, दक्षिण में क्रोएट तथा पूरब की तरफ़ ट्रांसिल्वेनिया में रहने वाले राउमन लोग। ऐसा फ़र्क़ राजनीतिक एकता को आसानी से बढ़ावा देने वाला नहीं था। इन तरह-तरह के समूहों को आपस में बाँधने वाला तत्व, केवल सम्राट के प्रति सबकी निष्ठा थी।

राष्ट्रवाद और राष्ट्र-राज्य का विचार कैसे उभरा?

कुछ महत्त्वपूर्ण तिथियाँ

1797
नेपोलियन का इटली पर हमला; नेपोलियाई युद्धों की शुरूआत

1814-1815
नेपोलियन का पतन; वियना शांति संधि

1821
यूनानी स्वतंत्रता के लिए संघर्ष प्रारंभ

1848
फ़्रांस में क्रांति; आर्थिक परेशानियों से ग्रस्त कारीगरों, औद्योगिक मजदूरों और किसानों की बग़ावत; मध्यवर्ग संविधान और प्रतिनिध्यात्मक सरकार के गठन की माँग करता है; इतालवी, जर्मन, मैग्यार, पोलिश, चेक आदि राष्ट्र राज्यों की मांग करते हैं

1859-1870
इटली का एकीकरण

1866-1871
जर्मनी का एकीकरण

1905
हैब्सबर्ग और ऑटोमन साम्राज्यों में स्लाव राष्ट्रवाद मज़बूत होता है।

2.1 कुलीन वर्ग और नया मध्यवर्ग

सामाजिक और राजनीतिक रूप से ज़मीन का मालिक कुलीन वर्ग यूरोपीय महाद्वीप का सबसे प्रभुत्वशाली वर्ग था। इस वर्ग के सदस्य एक साझा जीवन शैली से बँधे हुए थे जो क्षेत्रीय विभाजनों के आर-पार व्याप्त थी। वे ग्रामीण इलाक़ों में जायदाद और शहरी-हवेलियों के मालिक थे। राजनीतिक कार्यों के लिए तथा उच्च वर्गों के बीच वे फ़्रेंच भाषा का प्रयोग करते थे। उनके परिवार अकसर वैवाहिक बंधनों से आपस में जुड़े होते थे। मगर यह शक्तिशाली कुलीन वर्ग संख्या के लिहाज़ से एक छोटा समूह था। जनसंख्या के अधिकांश लोग कृषक थे। पश्चिम में ज़्यादातर ज़मीन पर किराएदार और छोटे काश्तकार खेती करते थे जबकि पूर्वी और मध्य यूरोप में भूमि विशाल जागीरों में बँटी थी जिस पर भूदास खेती करते थे।

पश्चिमी और मध्य यूरोप के हिस्सों में औद्योगिक उत्पादन और व्यापार में वृद्धि से शहरों का विकास और वाणिज्यिक वर्गों का उदय हुआ जिनका

© NCERT not to be republished

अस्तित्व बाज़ार के लिए उत्पादन पर टिका था। इंग्लैंड में औद्योगीकरण अठारहवीं सदी के दूसरे भाग में आरंभ हुआ लेकिन फ़्रांस और जर्मनी के राज्यों के कुछ हिस्सों में यह उन्नीसवीं शताब्दी के दौरान ही हुआ। इस प्रक्रिया के फलस्वरूप नए सामाजिक समूह अस्तित्व में आए श्रमिक-वर्ग के लोग और मध्य वर्ग जो उद्योगपतियों, व्यापारियों और सेवा क्षेत्र के लोगों से बने। मध्य और पूर्वी यूरोप में इन समूहों का आकार उन्नीसवीं सदी के अंतिम दशकों तक छोटा था। कुलीन विशेषाधिकारों की समाप्ति के बाद शिक्षित और उदारवादी मध्य वर्गों के बीच ही राष्ट्रीय एकता के विचार लोकप्रिय हुए।

2.2 उदारवादी राष्ट्रवाद के क्या मायने थे?

यूरोप में उन्नीसवीं सदी के शुरुआती दशकों में राष्ट्रीय एकता से संबंधित विचार उदारवाद से करीब से जुड़े थे। उदारवाद यानी liberalism शब्द लातिन भाषा के मूल *liber* पर आधारित है जिसका अर्थ है 'आज़ाद'। नए मध्य वर्गों के लिए उदारवाद का मतलब था व्यक्ति के लिए आज़ादी और क़ानून के समक्ष सबकी बराबरी। राजनीतिक रूप से उदारवाद एक ऐसी सरकार पर ज़ोर देता था जो सहमति से बनी हो। फ़्रांसीसी क्रांति के बाद से उदारवाद निरंकुश शासक और पादरीवर्ग के विशेषाधिकारों की समाप्ति, संविधान तथा संसदीय प्रतिनिधि सरकार का पक्षधर था। उन्नीसवीं सदी के उदारवादी निजी संपत्ति के स्वामित्व की अनिवार्यता पर भी बल देते थे। लेकिन यह ज़रूरी नहीं था कि क़ानून के समक्ष बराबरी का विचार सबके लिए मताधिकार (suffrage) के पक्ष में था। आप याद करें कि क्रांतिकारी फ़्रांस उदारवादी प्रजातंत्र का पहला राजनीतिक प्रयोग था और वहाँ मत देने और चुने जाने का अधिकार केवल संपत्तिवान पुरुषों को ही हासिल था। संपत्ति-विहीन पुरुष और सभी महिलाओं को राजनीतिक अधिकारों से वंचित रखा गया था। केवल थोड़े समय के लिए जैकोबिन शासन के समय सभी वयस्क पुरुषों को मताधिकार प्राप्त था। मगर नेपोलियन की संहिता पुनः सीमित मताधिकार वापस आई और उसने महिलाओं को अवस्यक दर्जा देते हुए उन्हें पिताओं और पतियों के अधीन कर दिया। संपूर्ण उन्नीसवीं सदी तथा बीसवीं सदी के आरंभिक वर्षों में महिलाओं और संपत्ति-विहीन पुरुषों ने समान राजनीतिक अधिकारों की माँग करते हुए विरोध-आंदोलन चलाए।

आर्थिक क्षेत्र में, उदारवाद, बाज़ारों की मुक्ति और चीज़ों तथा पूँजी के आवागमन पर राज्य द्वारा लगाए गए नियंत्रणों को खत्म करने के पक्ष में था। उन्नीसवीं सदी के दौरान, उभरते हुए मध्य वर्गों की यह ज़ोरदार माँग थी। आइए, हम उन्नीसवीं सदी के पहले भाग में जर्मन-भाषी इलाक़ों का उदाहरण लें। नेपोलियन के प्रशासनिक क़दमों से अनगिनत छोटे प्रदेशों से 39 राज्यों का एक महासंघ बना। इनमें से प्रत्येक की अपनी मुद्रा और नाप-तौल प्रणाली थी। 1833 में हैम्बर्ग से न्यूरेम्बर्ग जा कर अपना माल बेचने वाले एक व्यापारी को ग्यारह सीमाशुल्क नाकों से गुज़रना पड़ता था

© NCERT not to be republished

और हर बार लगभग 5% सीमाशुल्क देना पड़ता था। शुल्क अकसर वस्तुओं का वज़न या आकार के अनुसार लगाए जाते थे। चूँकि हर क्षेत्र की अपनी नाप-तौल व्यवस्था थी अतः हिसाब लगाने में समय लगता था। मसलन कपड़े को नापने का पैमाना ऐले *(elle)* था जिसकी लंबाई जगह बदलने के साथ घटती-बढ़ती थी। अगर एक एल कपड़ा फ़्रैंकफ़र्ट में खरीदा जाता तो 54.7 सेंटीमीटर मिलता, मेंज़ (Mainz) में 55.1 सेंटीमीटर, न्यूरेम्बर्ग में 65.6 सेंटीमीटर और फ़्राईबर्ग में 53.5 सेंटीमीटर।

नए वाणिज्यिक वर्ग ऐसी परिस्थितियों को आर्थिक विनिमय और विकास में बाधक मानते हुए एक ऐसे एकीकृत आर्थिक क्षेत्र के निर्माण के पक्ष में तर्क दे रहा था जहाँ वस्तुओं, लोग और पूँजी का आवागमन बाधारहित हो। 1834 में प्रशा की पहल पर एक शुल्क संघ ज़ॉलवेराइन (Zollverein) स्थापित किया गया जिसमें अधिकांश जर्मन राज्य शामिल हो गए। इस संघ ने शुल्क अवरोधों को समाप्त कर दिया और मुद्राओं की संख्या दो कर दी जो उससे पहले तीस से ऊपर थी। इसके अलावा रेलवे के जाल ने गतिशीलता बढ़ाई और आर्थिक हितों को राष्ट्रीय एकीकरण का सहायक बनाया। उस समय पनप रही व्यापक राष्ट्रवादी भावनाओं को आर्थिक राष्ट्रवाद की लहर ने मज़बूत बनाया।

2.3 1815 के बाद एक नया रूढ़िवाद

1815 में नेपोलियन की हार के बाद यूरोपीय सरकारें रूढ़िवाद की भावना से प्रेरित थीं। रूढ़िवादी मानते थे कि राज्य और समाज की स्थापित पारंपरिक संस्थाएँ; जैसे-राजतंत्र, चर्च, सामाजिक ऊँच-नीच, संपत्ति और परिवार को बनाए रखना चाहिए। फिर भी अधिकतर रूढ़िवादी लोग क्रांति से पहले के दौर में वापसी नहीं चाहते थे। नेपोलियन द्वारा शुरू किए गए परिवर्तनों से उन्होंने यह जान लिया था कि आधुनिकीकरण, राजतंत्र जैसी पारंपरिक संस्थाओं को मज़बूत बनाने में सक्षम था। वह राज्य की ताक़त को ज़्यादा कारगर और मज़बूत बना सकता था। एक आधुनिक सेना, कुशल नौकरशाही, गतिशील अर्थव्यवस्था, सामंतवाद और भूदासत्व की समाप्ति–यूरोप के निरंकुश राजतंत्रों को शक्ति प्रदान कर सकते थे।

1815 में, ब्रिटेन, रूस, प्रशा और ऑस्ट्रिया जैसी यूरोपीय शक्तियों जिन्होंने मिलकर नेपोलियन को हराया था - के प्रतिनिधि यूरोप के लिए एक समझौता तैयार करने के लिए वियना में मिले। इस सम्मेलन (Congress) की मेज़बानी ऑस्ट्रिया के चांसलर ड्यूक मैटरनिख ने की। इसमें प्रतिनिधियों ने 1815 की वियना संधि (Treaty of Vienna) तैयार की जिसका उद्देश्य उन कई सारे बदलावों को खत्म करना था जो नेपोलियाई युद्धों के दौरान हुए थे। फ़्रांसीसी क्रांति के दौरान हटाए गए बूर्बो वंश को सत्ता में बहाल किया गया और फ़्रांस ने उन इलाक़ों को खो दिया जिन पर क़ब्ज़ा उसने नेपोलियन के अधीन किया गया था। फ़्रांस की सीमाओं पर कई राज्य क़ायम कर दिए गए ताकि भविष्य में फ़्रांस विस्तार न कर सके। अतः उत्तर

स्रोत-ख

अर्थशास्त्री राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की शब्दावली में सोचने लगे। वे चर्चा करने लगे कि राष्ट्र कैसे विकास कर सकता है और कौन से आर्थिक क़दम राष्ट्र को निर्मित करने में मदद दे सकते हैं।

ज़र्मनी के ट्यूबिंजन विश्वविद्यालय में अर्थशास्त्र के प्रोफ़ेसर फ़्रिडरीख लिस्ट (Friedrich List) ने 1834 में लिखा:

ज़ॉल्वेराइन का लक्ष्य जर्मन लोगों को आर्थिक रूप में एक राष्ट्र में बाँध देना है। वह राष्ट्र की आर्थिक हालत जितना बाहरी तरह से उसके हितों की रक्षा करके मज़बूत बनाएगा, उतना ही आंतरिक उत्पादकता को बढ़ा कर भी। उसे प्रांतीय हितों को आपस में जोड़ कर राष्ट्रीय भावना को जगाना और उठाना चाहिए। जर्मन लोग यह समझ गए हैं कि एक मुक्त आर्थिक व्यवस्था ही राष्ट्रीय भावनाओं के उत्पन्न होने का एकमात्र ज़रिया है।

स्रोत

चर्चा करें

उन राजनीतिक उद्देश्यों का विवरण दें जिन्हें आर्थिक क़दमों द्वारा हासिल करने की उम्मीद लिस्ट को है।

नए शब्द

रूढ़िवाद : ऐसा राजनीतिक दर्शन जो परंपरा, स्थापित संस्थानों और रिवाजों पर जोर देता है और तेज़ बदलावों की बजाय क्रमिक और धीरे-धीरे विकास को प्राथमिकता देता है।

© NCERT not to be republished

में नीदरलैंड्स का राज्य स्थापित किया। जिसमें बेल्जियम शामिल था और दक्षिण में पीडमॉण्ट में जेनोआ जोड़ दिया गया। प्रशा को उसकी पश्चिमी सीमाओं पर महत्त्वपूर्ण नए इलाक़े दिए गए जबकि ऑस्ट्रिया को उत्तरी इटली का नियंत्रण सौंपा गया। मगर नेपोलियन ने 39 राज्यों का जो जर्मन महासंघ स्थापित किया था, उसे बरक़रार रखा गया। पूर्व में रूस को पोलैंड का एक हिस्सा दिया गया जबकि प्रशा को सैक्सनी का एक हिस्सा प्रदान किया गया। इस सबका मुख्य उद्देश्य उन राजतंत्रों की बहाली था जिन्हें नेपोलियन ने बर्खास्त कर दिया था। साथ ही यूरोप में एक नयी रूढ़िवादी व्यवस्था क़ायम करने का लक्ष्य भी था।

1815 में स्थापित रूढ़िवादी शासन व्यवस्थाएँ निरंकुश थीं। वे आलोचना और असहमति बरदाश्त नहीं करती थीं और उन्होंने उन गतिविधियों को दबाना चाहा जो निरंकुश सरकारों की वैधता पर सवाल उठाती थीं। ज़्यादातर सरकारों ने सेंसरशिप के नियम बनाए जिनका उद्देश्य अखबारों, किताबों, नाटकों और गीतों में व्यक्त उन बातों पर नियंत्रण लगाना था जिनसे फ़्रांसीसी क्रांति से जुड़े स्वतंत्रता और मुक्ति के विचार झलकते थे। लेकिन फिर भी फ़्रांसीसी क्रांति की स्मृति उदारवादियों को लगातार प्रेरित कर रही थी। नयी रूढ़िवादी व्यवस्था के आलोचक उदारवादी राष्ट्रवादियों द्वारा उठाया गया एक मुख्य मुद्दा था– प्रेस की आज़ादी।

गतिविधि

यूरोप के नक़्शे पर उन परिवर्तनों को चिह्नित करें जो वियना कांग्रेस के फलस्वरूप सामने आए।

चर्चा करें

व्यंग्यकार क्या दर्शाने का प्रयास कर रहा है?

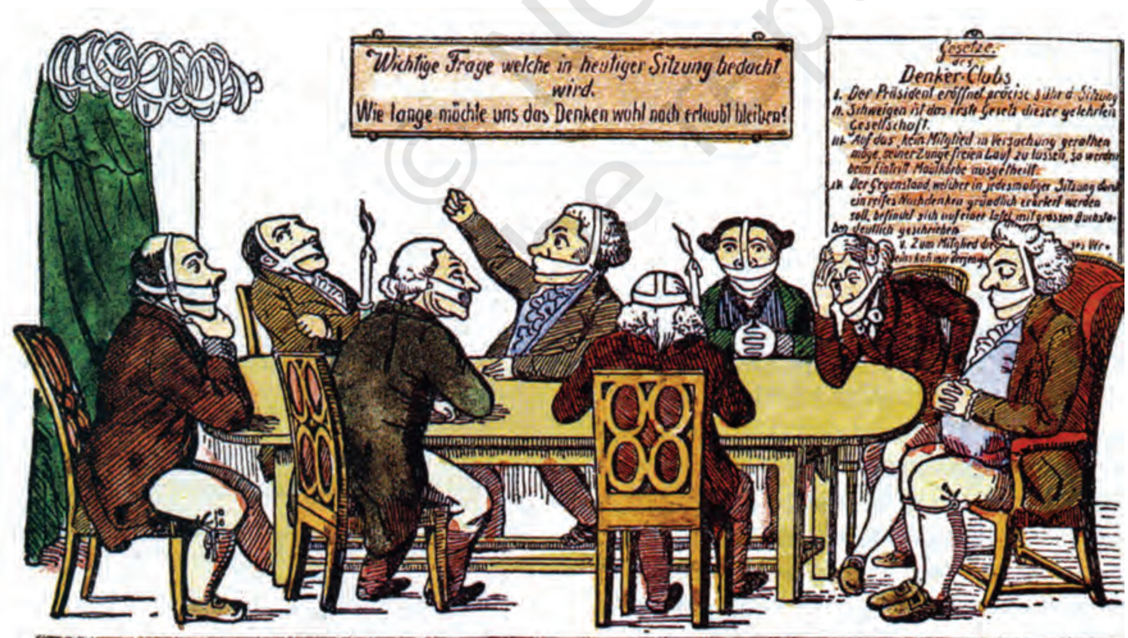

चित्र 6 – चिंतकों का क्लब, 1820 के आसपास बनाया गया एक अनाम व्यंग्य चित्र।

बाईं तरफ़ की पट्टी पर लिखा है : 'आज की बैठक का सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न हैं : हमें कब तक सोचने दिया जाएगा?'

दाईं तरफ़ बोर्ड पर क्लब के नियमों की सूची है जिनमें निम्नलिखित शामिल हैं :

'1. इस पढ़े-लिखे समाज का पहला नियम है ख़ामोशी।

'2. ऐसी किसी स्थिति से बचने के लिए जब इस क्लब का कोई सदस्य बोलने के लोभ का शिकार हो जाए, सदस्यों को प्रवेश करने पर मुँह बंद रखने वाले मोहरे (Muzzle) बाँटे जाएँगे।'

© NCERT not to be republished

2.4 क्रांतिकारी

1815 के बाद के वर्षों में दमन के भय ने अनेक उदारवादी-राष्ट्रवादियों को भूमिगत कर दिया। बहुत सारे यूरोपीय राज्यों में क्रांतिकारियों को प्रशिक्षण देने और विचारों का प्रसार करने के लिए गुप्त संगठन उभर आए। उस समय क्रांतिकारी होने का मतलब उन राजतंत्रीय व्यवस्थाओं का विरोध करने से था जो वियना कांग्रेस के बाद स्थापित की गई थीं। साथ ही स्वतंत्रता और मुक्ति के लिए प्रतिबद्ध होना और संघर्ष करना क्रांतिकारी होने के लिए ज़रूरी था। ज़्यादातर क्रांतिकारी राष्ट्र-राज्यों की स्थापना को आज़ादी के इस संघर्ष का अनिवार्य हिस्सा मानते थे।

ऐसा ही वह व्यक्ति था इटली का क्रांतिकारी ज्युसेपी मेत्सिनी। उनका जन्म 1807 में जेनोआ में हुआ था और वह कार्बोनारी के गुप्त संगठन का सदस्य बन गया। चौबीस साल की युवावस्था में लिगुरिया में क्रांति करने के लिए उसे बहिष्कृत कर दिया गया। तत्पश्चात उसने दो और भूमिगत संगठनों की स्थापना की। पहला था मार्सेई में यंग इटली और दूसरा बर्न में यंग यूरोप, जिसके सदस्य पोलैंड, फ़्रांस, इटली और जर्मन राज्यों में समान विचार रखने वाले युवा थे। मेत्सिनी का विश्वास था कि ईश्वर की मर्ज़ी के अनुसार राष्ट्र ही मनुष्यों की प्राकृतिक इकाई थी। अत: इटली छोटे राज्यों और प्रदेशों के पैबंदों की तरह नहीं रह सकता था। उसे जोड़ कर राष्ट्रों के व्यापक गठबंधन के अंदर एकीकृत गणतंत्र बनाना ही था। यह एकीकरण ही इटली की मुक्ति का आधार हो सकता था। उसके इस मॉडल की देखा-देखी जर्मनी, फ़्रांस, स्विट्ज़रलैंड और पोलैंड में गुप्त संगठन क़ायम किए गए। मेत्सिनी द्वारा राजतंत्र का घोर विरोध करके और प्रजातांत्रिक गणतंत्रों के अपने स्वप्न से मेत्सिनी ने रूढ़िवादियों को हरा दिया। मैटरनिख ने उसे 'हमारी सामाजिक व्यवस्था का सबसे खतरनाक दुश्मन' बताया।

चित्र 7 – ज्युसेपे मेत्सिनी और बर्न 1833 में 'यंग यूरोप' की स्थापना।
गिआकोमो मांतेगाज़ा का चित्र।

3 क्रांतियों का युग : 1830–1848

जैसे-जैसे रूढ़िवादी व्यवस्थाओं ने अपनी ताक़त को और मज़बूत बनाने की कोशिश की, यूरोप के अनेक क्षेत्रों में उदारवाद और राष्ट्रवाद को क्रांति से जोड़ कर देखा जाने लगा। इटली और जर्मनी के राज्य, ऑटोमन साम्राज्य के सूबे, आयरलैंड और पोलैंड ऐसे ही कुछ क्षेत्र थे। इन क्रांतियों का नेतृत्व उदारवादी-राष्ट्रवादियों ने किया जो शिक्षित मध्यवर्गीय विशिष्ट लोग थे। इनमें प्रोफ़ेसर, स्कूली-अध्यापक, क्लर्क और वाणिज्य व्यापार में लगे मध्यवर्गों के लोग शामिल थे।

प्रथम विद्रोह फ़्रांस में जुलाई 1830 में हुआ। बूर्बों राजा, जिन्हें 1815 के बाद हुई रूढ़िवादी प्रतिक्रिया के दौरान सत्ता में बहाल किया गया था, उन्हें अब उदारवादी क्रांतिकारियों ने उखाड़ फेंका। उनकी जगह एक संवैधानिक राजतंत्र स्थापित किया गया जिसका अध्यक्ष लुई फ़िलिप था। मैटरनिख ने एक बार यह टिप्पणी की थी कि 'जब फ़्रांस छींकता है तो बाक़ी यूरोप की सर्दी-ज़ुकाम हो जाता है।' जुलाई क्रांति से ब्रसेल्स में भी विद्रोह भड़क गया जिसके फलस्वरूप यूनाइटेड किंगडम ऑफ़ द नीदरलैंड्स से अलग हो गया।

एक घटना जिसने पूरे यूरोप के शिक्षित अभिजात वर्ग में राष्ट्रीय भावनाओं का संचार किया, वह थी, यूनान का स्वंतत्रता संग्राम। पंद्रहवीं सदी से यूनान ऑटोमन साम्राज्य का हिस्सा था। यूरोप में क्रांतिकारी राष्ट्रवाद की प्रगति से यूनानियों का आज़ादी के लिए संघर्ष 1821 में आरंभ हो गया। यूनान में राष्ट्रवादियों को निर्वासन में रह रहे यूनानियों के साथ पश्चिमी यूरोप के अनेक लोगों का भी समर्थन मिला जो प्राचीन यूनानी संस्कृति (Hellenism) के प्रति सहानुभूति रखते थे। कवियों और कलाकारों ने यूनान को यूरोपीय सभ्यता का पालना बता कर प्रशंसा की और एक मुस्लिम साम्राज्य के विरुद्ध यूनान के संघर्ष के लिए जनमत जुटाया। अंग्रेज़ कवि लॉर्ड बायरन ने धन इकट्ठा किया और बाद में युद्ध में लड़ने भी गए जहाँ 1824 में बुखार से उनकी मृत्यु हो गई। अंततः 1832 की कुस्तुनतुनिया की संधि ने यूनान को एक स्वतंत्र राष्ट्र की मान्यता दी।

3.1 रूमानी कल्पना और राष्ट्रीय भावना

राष्ट्रवाद का विकास केवल युद्धों और क्षेत्रीय विस्तार से नहीं हुआ। राष्ट्र के विचार के निर्माण में संस्कृति ने एक अहम भूमिका निभाई। कला, काव्य, कहानियों-क़िस्सों और संगीत ने राष्ट्रवादी भावनाओं को गढ़ने और व्यक्त करने में सहयोग दिया। आइए, हम रूमानीवाद को देखे जो एक ऐसा सांस्कृतिक आंदोलन था जो एक खास तरह की राष्ट्रीय भावना का विकास करना चाहता था। आमतौर पर रूमानी कलाकारों और कवियों ने तर्क-वितर्क

© NCERT not to be republished

चित्र 8 - यूजीन देलाक्रोआ, द मसैकर ऐट किऑस, 1824
फ़्रांसीसी चित्रकार देलाक्रोआ सबसे महत्त्वपूर्ण फ़्रेंच रूमानी चित्रकारों में से एक था। यह विशाल चित्र (4.19 मीटर × 3.54 मीटर) एक घटना को चित्रित करता है जिसमें किऑस द्वीप पर कहा जाता है तुर्कों ने बीस हज़ार यूनानियों को मार डाला। देलाक्रोआ ने घटना नाटकीय बना कर, महिलाओं और बच्चों की पीड़ा को केंद्र बिंदु बनाते हुए चटख रंगों का प्रयोग करके देखने वालों की भावनाएँ उभार करके यूनानियों के लिए सहानुभूति जगाने की कोशिश की।

और विज्ञान के महिमामंडन की आलोचना की और उसकी जगह भावनाओं, अंतर्दृष्टि और रहस्यवादी भावनाओं पर ज़ोर दिया। उनका प्रयास था कि एक साझा-सामूहिक विरासत की अनुभूति और एक साझा सांस्कृतिक अतीत को राष्ट्र का आधार बनाया जाए।

जर्मन दार्शनिक योहान गॉटफ़्रीड जैसे रूमानी चिंतकों ने दावा किया कि सच्ची जर्मनी संस्कृति उसके आम लोगों (das volk) में निहित थी। राष्ट्र (volkgeist) की सच्ची आत्मा लोकगीतों, जन-काव्य और लोकनृत्यों से प्रकट होती थी। इसलिए लोक संस्कृति के इन स्वरूपों को एकत्र और

अंकित करना राष्ट्र के निर्माण की परियोजना के लिए आवश्यक था। स्थानीय बोलियों पर बल और स्थानीय लोक-साहित्य को एकत्र करने का उद्देश्य केवल प्राचीन राष्ट्रीय भावना को वापस लाना नहीं था बल्कि आधुनिक राष्ट्रीय संदेश को ज़्यादा लोगों तक पहुँचाना था जिनमें से अधिकांश निरक्षर थे। यह ख़ासतौर पर पोलैंड पर लागू होता था जिसका अठारहवीं सदी के अंत में रूस, प्रशा और ऑस्ट्रिया जैसी बड़ी शक्तियों (Great Powers) ने विभाजन कर दिया था। यद्यपि पोलैंड अब स्वतंत्र भू-क्षेत्र नहीं था किंतु संगीत और भाषा के ज़रिये राष्ट्रीय भावना जीवित रखी गई। मसलन, कैरोल कुर्पिंस्की ने राष्ट्रीय संघर्ष का अपने ऑपेरा और संगीत से गुणगान किया और पोलेनेस और माज़ुरका जैसे लोकनृत्यों को राष्ट्रीय प्रतीकों में बदल दिया।

भाषा ने भी राष्ट्रीय भावनाओं के विकास में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। रूसी क़ब्ज़े के बाद, पोलिश भाषा को स्कूलों से बलपूर्वक हटा कर रूसी भाषा को हर जगह जबरन लादा गया। 1831 में, रूस के विरुद्ध एक सशस्त्र विद्रोह हुआ जिसे आखिरकार कुचल दिया गया। इसके अनेक सदस्यों ने राष्ट्रवादी विरोध के लिए भाषा को एक हथियार बनाया। चर्च के आयोजनों और संपूर्ण धार्मिक शिक्षा में पोलिश का इस्तेमाल हुआ। इसका नतीजा यह हुआ कि बड़ी संख्या में पादरियों और बिशपों को जेल में डाल दिया गया। रूसी अधिकारियों ने उन्हें सज़ा देते हुए साइबेरिया भेज दिया क्योंकि उन्होंने रूसी भाषा का प्रचार करने से इनकार कर दिया था। पोलिश भाषा रूसी प्रभुत्व के विरुद्ध संघर्ष के प्रतीक के रूप में देखी जाने लगी।

3.2 भूख, कठिनाइयाँ और जन विद्रोह

1830 का दशक यूरोप में भारी कठिनाइयाँ लेकर आया। उन्नीसवीं सदी के प्रथम भाग में पूरे यूरोप में जनसंख्या में ज़बरदस्त वृद्धि हुई। ज़्यादातर देशों में नौकरी ढूँढ़ने वालों की तादाद उपलब्ध रोज़गार से अधिक थी। ग्रामीण क्षेत्रों की अतिरिक्त आबादी शहर जाकर भीड़ से भरी गरीब बस्तियों में रहने लगी। नगरों के लघु उत्पादकों को अकसर इंग्लैंड से आयातित मशीन से बने सस्ते कपड़े से कड़ी प्रतिस्पर्धा का सामना करना पड़ रहा था। इंग्लैंड में औद्योगीकरण का स्तर महाद्वीप से ऊँचा था। महाद्वीप को यह प्रतिस्पर्धा कपड़ा-उद्योग में ज़्यादा झेलनी पड़ रही थी क्योंकि उसका उत्पादन मुख्यत: घरों और छोटे कारखानों में होता था और केवल आंशिक रूप से मशीनीकृत था। यूरोप के उन इलाक़ों में जहाँ कुलीन वर्ग अभी भी सत्ता में था, कृषक सामंती शुल्कों और ज़िम्मेदारियों के बोझ तले दबे थे। खाने-पीने की चीज़ों के मूल्य बढ़ने या किसी वर्ष फ़सल के खराब होने से शहर और गाँवों में व्यापक ग़रीबी फैल जाती थी।

बॉक्स 1

ग्रिम बंधुओं की कहानी : लोककथाएँ और राष्ट्रनिर्माण

ग्रिम्स फेयरीटेल्स एक जाना-माना नाम है। जैकब ग्रिम और विल्हेल्म ग्रिम बंधुओं का जन्म क्रमश: 1785 और 1786 में जर्मनी के हनाऊ शहर में हुआ था। जिस समय ये दोनों भाई क़ानून की पढ़ाई कर रहे थे उसी समय उन्होंने शौक़िया तौर पर पुरानी लोक कथाएँ इकट्ठा करना शुरू कर दिया। वे छह साल तक गाँव-गाँव जाकर यही काम करते रहे। वे लोगों से बात करते थे और पीढ़ियों से चली आ रही जो भी लोक कथा उनकी जानकारी में आती उसे लिखकर रख लेते थे। ये कहानियाँ बच्चों और बड़ों में समान रूप से पसंद की जाती थीं। 1812 में उन्होंने इन कहानियों का पहला संग्रह प्रकाशित किया। बाद में दोनों भाई उदारवादी राजनीति में सक्रिय हो गए। प्रैस की स्वतंत्रता के आंदोलन में उन्होंने विशेष रुचि ली। इसी बीच उन्होंने 33 खंडों में जर्मन भाषा का शब्दकोश भी प्रकाशित कर डाला।

ग्रिम बंधु फ़्रांस के वर्चस्व को जर्मन संस्कृति के लिए खतरा मानते थे। उनको विश्वास था कि उन्होंने जो लोककथाएँ इकट्ठी की हैं वे विशुद्ध और सच्ची जर्मन भावना की अभिव्यक्ति हैं। लोक कथाएँ इकट्ठी करने और जर्मन भाषा को विकसित करने के अपने प्रयासों को वे फ़्रांसीसी प्रभुत्व का विरोध करने और एक जर्मन राष्ट्रीय पहचान गढ़ने की व्यापक योजना का हिस्सा मानते थे।

चर्चा करें

राष्ट्रीय पहचान के निर्मित होने में भाषा और लोक परंपराओं के महत्त्व की चर्चा करें।

© NCERT not to be republished

चित्र 9 – कृषक विद्रोह, 1848

1848 ऐसा ही एक वर्ष था। खाने-पीने की कमी और व्यापक बेरोज़गारी से पेरिस के लोग सड़कों पर उतर आए। जगह-जगह अवरोध लगाए गए और लुई फ़िलिप को भागने पर मजबूर किया गया। राष्ट्रीय सभा (National Assembly) ने एक गणतंत्र की घोषणा करते हुए 21 वर्ष से ऊपर सभी वयस्क पुरुषों को मताधिकार प्रदान किया और काम के अधिकार की गारंटी दी। रोज़गार उपलब्ध कराने के लिए राष्ट्रीय कारखाने स्थापित किए गए।

इससे पहले 1845 में सिलेसिया में बुनकरों ने उन ठेकेदारों के खिलाफ़ विद्रोह कर दिया था जो उन्हें कच्चा माल देकर निर्मित कपड़ा लेते थे परंतु दाम बहुत कम थे। पत्रकार विल्हेम वोल्फ़ ने सिलेसिया के एक गाँव की घटनाएँ इस प्रकार बयान कीं :

इन गाँवों में (18,000 आबादी वाले) सूती कपड़ा बुनने का व्यवसाय सबसे व्यापक है.... श्रमिकों की हालत खस्ता है। काम के लिए बेताब लोगों का फ़ायदा उठा कर ठेकेदारों ने बनवाए जाने वाले माल की क़ीमतें गिरा दी हैं...

4 जून को दोपहर 2 बजे बुनकरों की एक भीड़ अपने घरों से निकली और दो क़तारों में चलते हुए ठेकेदार की कोठी पहुँची। वे ज़्यादा मज़दूरी की माँग कर रहे थे। उनके साथ कभी घृणा का व्यवहार किया गया तो कभी धमकियाँ दी गईं। इसके बाद यह भीड़ घर में ज़बरदस्ती घुस गई और चमचमाती खिड़कियाँ, फ़र्नीचर और चीनी-मिट्टी की बनी नफ़ीस चीज़ें तोड़ दीं.... एक अन्य गुट ने भंडारगृह में घुस कर कपड़े के भंडार को लूट कर उसे तार-तार कर दिया..... ठेकेदार अपने परिवार के साथ पड़ोस के गाँव भाग गया हालाँकि ऐसे व्यक्ति को उस गाँव ने शरण देने से इनकार कर

चर्चा करें

सिलेसियाई बुनकरों के विद्रोह के कारणों का वर्णन करें। पत्रकार के नज़रिए पर टिप्पणी करें।

गतिविधि

कल्पना कीजिए कि आप एक बुनकर हैं जिसने चीजों को बदलते हुए देखा है। आपने क्या देखा, इस आधार पर एक रिपोर्ट लिखिए।

© NCERT not to be republished

दिया। वह 24 घंटों बाद सेना को बुला कर उसकी मदद से लौटा। इसके बाद जो टकराव हुआ उसमें ग्यारह बुनकरों को गोली मार दी गई।

3.3 1848 : उदारवादियों की क्रांति

1848 में जब अनेक यूरोपीय देशों में ग़रीबी, बेरोज़गारी और भुखमरी से ग्रस्त किसान-मज़दूर विद्रोह कर रहे थे तब उसके समानांतर पढ़े-लिखे मध्यवर्गों की एक क्रांति भी हो रही थी। फ़रवरी 1848 की घटनाओं से राजा को गद्दी छोड़नी पड़ी थी और एक गणतंत्र की घोषणा की गई जो सभी पुरुषों के सार्विक मताधिकार पर आधारित था। यूरोप के अन्य भागों में जहाँ अभी तक स्वतंत्र राष्ट्र-राज्य अस्तित्व में नहीं आए थे–जैसे जर्मनी, इटली, पोलैंड, ऑस्ट्रो-हंगेरियन साम्राज्य–वहाँ के उदारवादी मध्यवर्गों के स्त्री-पुरुषों ने संविधानवाद की माँग को राष्ट्रीय एकीकरण की माँग से जोड़ दिया। उन्होंने बढ़ते जन असंतोष का फ़ायदा उठाया और एक राष्ट्र-राज्य के निर्माण की माँगों को आगे बढ़ाया। यह राष्ट्र-राज्य संविधान, प्रेस की स्वतंत्रता और संगठन बनाने की आज़ादी जैसे संसदीय सिद्धांतों पर आधारित था।

जर्मन इलाक़ों में बड़ी संख्या में राजनीतिक संगठनों ने फ़्रैंकफ़र्ट शहर में मिल कर एक सर्व-जर्मन नेशनल एसेंबली के पक्ष में मतदान का फ़ैसला लिया। 18 मई 1848 को, 831 निर्वाचित प्रतिनिधियों ने एक सजे-धजे जुलूस में जा कर फ़्रैंकफ़र्ट संसद में अपना स्थान ग्रहण किया। यह संसद सेंट पॉल चर्च में आयोजित हुई। उन्होंने एक जर्मन राष्ट्र के लिए एक संविधान का प्रारूप तैयार किया। इस राष्ट्र की अध्यक्षता एक ऐसे राजा को सौंपी गई जिसे संसद के अधीन रहना था। जब प्रतिनिधियों ने प्रशा के राजा फ़्रेडरीख विल्हेम चतुर्थ को ताज पहनाने की पेशकश की तो उसने उसे अस्वीकार कर उन राजाओं का साथ दिया जो निर्वाचित सभा के विरोधी थे। जहाँ कुलीन वर्ग और सेना का विरोध बढ़ गया, वहीं संसद का सामाजिक आधार कमज़ोर हो गया। संसद में मध्य वर्गों का प्रभाव अधिक था जिन्होंने मज़दूरों और कारीगरों की माँगों का विरोध किया जिससे वे उनका समर्थन खो बैठे। अंत में सैनिकों को बुलाया गया और एसेंबली भंग होने पर मजबूर हुई।

उदारवादी आंदोलन के अंदर महिलाओं को राजनीतिक अधिकार प्रदान करने का मुद्दा विवादास्पद था हालाँकि आंदोलन में वर्षों से बड़ी संख्या में महिलाओं ने सक्रिय रूप से भाग लिया था। महिलाओं ने अपने राजनीतिक संगठन स्थापित किए, अखबार शुरू किए और राजनीतिक बैठकों और प्रदर्शनों में शिरकत की। इसके बावजूद उन्हें एसेंबली के चुनाव के दौरान

नए शब्द

नारीवाद : स्त्री-पुरुष की सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक समानता की सोच के आधार पर महिलाओं के अधिकारों और हितों का बोध।

स्रोत-ग

स्वतंत्रता और समानता का महिलाओं के लिए क्या अर्थ था?

उदारवादी राजनीतिज्ञ कार्ल वेल्कर ने, जो फ़्रैंकफ़र्ट संसद के एक निर्वाचित सदस्य थे, निम्नलिखित विचार व्यक्त किए–

'प्रकृति ने पुरुषों और महिलाओं को अलग-अलग कार्य करने के लिए निर्मित किया है ... पुरुष जो ज़्यादा ताक़तवर है, दोनों में से ज़्यादा निर्भीक और मुक्त है उसे परिवार का रखवाला और भरण-पोषण करने वाला बनाया गया है और वह क़ानून, उत्पादन तथा प्रतिरक्षा के क्षेत्र में सार्वजनिक कार्यों के लिए है। महिला जो कमज़ोर, निर्भर और दब्बू है, उसे पुरुष की सुरक्षा की आवश्यकता है। उसका क्षेत्र घर, बच्चों की देखभाल और परिवार का पालन-पोषण है...।

'क्या हमें कोई और प्रमाण चाहिए कि इन भेदों के बाद, लिंगों में बराबरी केवल परिवार के मेल-मिलाप और गरिमा को खतरे में डाल देगी?'

लुइज़े ऑटो-पीटर्स (1819-95) एक राजनैतिक कार्यकर्ता थी जिसने महिलाओं की पत्रिका और तत्पश्चात एक **नारीवादी** राजनीतिक संगठन की स्थापना की। उसके अख़बार (21 अप्रैल, 1849) के प्रथम अंक में निम्नलिखित संपादकीय छपा: आइए हम यह पूछें कि कितने पुरुष जो स्वतंत्रता के लिए जीने-मरने के विचारों से ओत-प्रोत हैं, सभी लोगों, सभी इनसानों की आज़ादी के लिए तैयार होंगे? जब उनसे यह प्रश्न पूछा जाएगा, वे बड़ी आसानी से जवाब देंगे। ''हाँ!'' हालाँकि उनके अथक प्रयास केवल आधी मानवजाति के फ़ायदे के लिए हैं यानी पुरुष। मगर स्वतंत्रता तो अविभाज्य है। अत: स्वतंत्र पुरुषों को परतंत्रता से घिरे रहना मंज़ूर नहीं होना चाहिए...।

उसी अख़बार के एक अनाम पाठक ने 25 जून, 1850 को संपादक को निम्नलिखित पत्र भेजा–

'महिलाओं को राजनैतिक अधिकारों से वंचित रखना वाक़ई बेतुका और अविवेकपूर्ण है जबकि उन्हें संपत्ति का अधिकार है जिसका वे इस्तेमाल करती हैं और ज़िम्मेदारियाँ भी उठाती हैं हालाँकि उन्हें वे लाभ नहीं मिलते जो उसी के लिए पुरुषों को मिलते हैं.. यह अन्याय क्यों? क्या यह लज्जा की बात नहीं कि सबसे मूर्ख मवेशी-पालक को मत देने का अधिकार सिर्फ़ इसलिए है क्योंकि वह एक पुरुष है जबकि अत्यंत क़ाबिल महिलाओं को, जो काफ़ी संपत्ति की मालकिन होती हैं, इसी हक़ से वंचित रखा जाता है यद्यपि वे राज्य के रख-रखाव में इतना ज़्यादा योगदान देती हैं।'

स्रोत

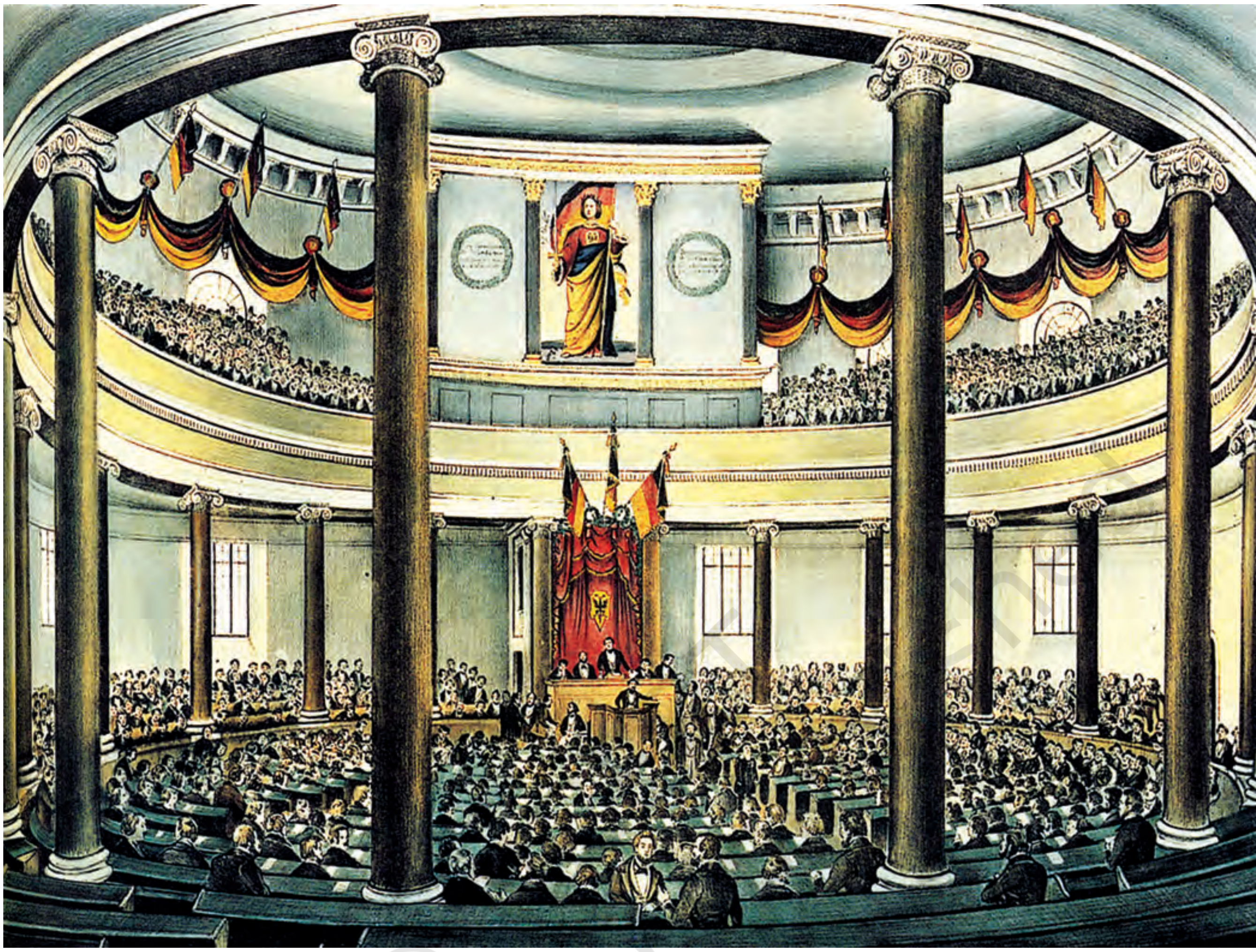

चित्र 10 – सेंट पॉल की चर्च में फ़्रैंकफ़र्ट संसद, समकालीन रंगीन चित्र।
ऊपर बाईं दीर्घा में महिलाएँ बैठी हैं।

मताधिकार से वंचित रखा गया था। जब सेंट पॉल चर्च में फ़्रैंकफ़र्ट संसद की सभा आयोजित की गई थी तब महिलाओं को केवल प्रेक्षकों की हैसियत से दर्शक-दीर्घा में खड़े होने दिया गया।

हालाँकि रूढ़िवादी ताक़तें 1848 में उदारवादी आंदोलनों को दबा पाने में कामयाब हुईं किंतु वे पुरानी व्यवस्था बहाल नहीं कर पाईं। राजाओं को यह समझ में आना शुरू हो गया था कि उदारवादी-राष्ट्रवादी क्रांतिकारियों को रियायतें देकर ही क्रांति और दमन के चक्र को समाप्त किया जा सकता था। अत: 1848 के बाद के वर्षों में मध्य और पूर्वी यूरोप की निरंकुश राजशाहियों ने उन परिवर्तनों को आरंभ किया जो पश्चिमी यूरोप में 1815 से पहले हो चुके थे। इस प्रकार हैब्सबर्ग अधिकार वाले क्षेत्रों और रूस में भूदासत्व और बंधुआ मज़दूरी समाप्त कर दी गई। हैब्सबर्ग शासकों ने हंगरी के लोगों को ज़्यादा स्वायत्तता प्रदान की हालाँकि इससे निरंकुश मैग्यारों के प्रभुत्व का रास्ता ही साफ़ हुआ।

चर्चा करें

ऊपर उद्धृत तीन लेखकों द्वारा महिलाओं के अधिकार के प्रश्न पर व्यक्त विचारों की तुलना करें। उनसे उदारवादी विचारधारा के बारे में क्या स्पष्ट होता है?

नए शब्द

विचारधारा : एक खास प्रकार की सामाजिक एवं राजनीतिक दृष्टि को इंगित करने वाले विचारों का समूह।

4 जर्मनी और इटली का निर्माण

4.1 जर्मनी–क्या सेना राष्ट्र की निर्माता हो सकती है?

1848 के बाद यूरोप में राष्ट्रवाद का जनतंत्र और क्रांति से अलगाव होने लगा। राज्य की सत्ता को बढ़ाने और पूरे यूरोप पर राजनीतिक प्रभुत्व हासिल करने के लिए रूढ़िवादियों ने अकसर राष्ट्रवादी भावनाओं का इस्तेमाल किया।

इसे उस प्रक्रिया में देखा जा सकता है जिससे जर्मनी और इटली एकीकृत होकर राष्ट्र-राज्य बने। जैसा आपने देखा है, राष्ट्रवादी भावनाएँ मध्यवर्गीय जर्मन लोगों में काफ़ी व्याप्त थीं और उन्होंने 1848 में जर्मन महासंघ के विभिन्न इलाक़ों को जोड़ कर एक निर्वाचित संसद द्वारा शासित राष्ट्र-राज्य बनाने का प्रयास किया था। मगर राष्ट्र निर्माण की यह उदारवादी पहल राजशाही और फ़ौज की ताक़त ने मिलकर दबा दी। उनका प्रशा के बड़े भूस्वामियों (Junkers) ने भी समर्थन किया। उसके पश्चात प्रशा ने राष्ट्रीय एकीकरण के आंदोलन का नेतृत्व सँभाल लिया। उसका प्रमुख मंत्री, ऑटो वॉन बिस्मार्क इस प्रक्रिया का जनक था जिसने प्रशा की सेना और नौकरशाही की मदद ली। सात वर्ष के दौरान ऑस्ट्रिया, डेन्मार्क और फ़्रांस से तीन युद्धों में प्रशा को जीत हुई और एकीकरण की प्रक्रिया पूरी हुई। जनवरी 1871 में, वर्साय में हुए एक समारोह में प्रशा के राजा विलियम प्रथम को जर्मनी का सम्राट घोषित किया गया।

18 जनवरी 1871 की सुबह बेहद ठंडी थी। जर्मन राज्यों के राजकुमारों, सेना के प्रतिनिधियों और प्रमुख मंत्री ऑटो वॉन बिस्मार्क समेत प्रशा के महत्त्वपूर्ण मंत्रियों की एक बैठक वर्साय के महल के बेहद ठंडे शीशमहल (हॉल ऑफ़ मिरर्स) में हुई। सभा ने प्रशा के काइज़र विलियम प्रथम के नेतृत्व में नए जर्मन साम्राज्य की घोषणा की।

जर्मनी में राष्ट्र निर्माण प्रक्रिया ने प्रशा राज्य की शक्ति के प्रभुत्व को दर्शाता था। नए राज्य ने जर्मनी की मुद्रा, बैंकिंग और क़ानूनी तथा न्यायिक व्यवस्थाओं के आधुनिकीकरण पर काफ़ी ज़ोर दिया और प्रशा द्वारा उठाए क़दम और उसकी कार्रवाइयाँ बाक़ी जर्मनी के लिए अकसर एक मॉडल बना।

4.2 इटली

जर्मनी की तरह इटली में भी राजनीतिक विखंडन का एक लंबा इतिहास था। इटली अनेक वंशानुगत राज्यों तथा बहु-राष्ट्रीय हैब्सबर्ग साम्राज्य में बिखरा हुआ

चित्र 11 – आन्तॉन वॉन वर्नर की कृति, वर्साय के हॉल ऑफ़ मिरर्स में जर्मन साम्राज्य की घोषणा।

चित्र के बीच में काइज़र और प्रशियाई सेना के मुख्य कमांडर, जनरल वॉन रून खड़े हैं। उनके पास हैं बिस्मार्क। इस विशाल कृति (2.7 मीटर x 2.7 मीटर) को चित्रकार ने 1885 में बिस्मार्क के 70वें जन्मदिन पर उन्हें भेंट किया था।

चित्र 12 – जर्मनी का एकीकरण (1866–71)।

था। उन्नीसवीं सदी के मध्य में इटली सात राज्यों में बँटा हुआ था जिनमें से केवल एक–सार्डिनिया पीडमॉण्ट में एक इतालवी राजघराने का शासन था। उत्तरी भाग ऑस्ट्रियाई हैब्सबर्गों के अधीन था, मध्य इलाक़ों पर पोप का शासन था और दक्षिणी क्षेत्र स्पेन के बूर्बो राजाओं के अधीन थे। इतालवी भाषा ने भी साझा रूप हासिल नहीं किया था और अभी तक उसके विविध क्षेत्रीय और स्थानीय रूप मौजूद थे।

1830 के दशक में ज्युसेपे मेत्सिनी ने एकीकृत इतालवी गणराज्य के लिए एक सुविचारित कार्यक्रम प्रस्तुत करने की कोशिश की थी। उसने अपने उद्देश्यों के प्रसार के लिए यंग इटली नामक एक गुप्त संगठन भी बनाया था। 1831 और 1848 में क्रांतिकारी विद्रोहों की असफलता से युद्ध के ज़रिये इतालवी राज्यों को जोड़ने की ज़िम्मेदारी सार्डिनिया–पीडमॉण्ट के शासक विक्टर इमेनुएल द्वितीय पर आ गई। इस क्षेत्र के शासक अभिजात वर्ग की नज़रों में एकीकृत इटली उनके लिए आर्थिक विकास और राजनीतिक प्रभुत्व की संभावनाएँ उत्पन्न करता था। मंत्री प्रमुख कावूर, जिसने इटली के प्रदेशों को एकीकृत करने वाले आंदोलन का नेतृत्व किया, न तो एक क्रांतिकारी था और न ही जनतंत्र में विश्वास रखने वाला। इतालवी अभिजात वर्ग के तमाम अमीर और शिक्षित सदस्यों की तरह वह इतालवी भाषा से कहीं बेहतर फ्रेंच बोलता था। फ़्रांस से सार्डिनिया–पीडमॉण्ट की एक चतुर कूटनीतिक संधि, जिसके पीछे कावूर का हाथ था, से सार्डिनिया–पीडमॉण्ट 1859 में ऑस्ट्रियाई बलों को हरा पाने में कामयाब

चित्र 13 – व्यंग्यचित्र : जर्मन राइखस्टैग (संसद) में ऑटो वॉन बिस्मार्क, फ़िगारो से, वियना, 5 मार्च 1870

गतिविधि

इस व्यंग्यचित्र का वर्णन करें। इसमें बिस्मार्क और संसद के निर्वाचित डेप्यूटीज़ के बीच किस प्रकार का संबंध दिखायी देता है? यहाँ चित्रकार लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं की क्या व्याख्या करना चाहता है?

© NCERT not to be republished

हुआ। नियमित सैनिकों के अलावा ज्युसेपे गैरीबॉल्डी के नेतृत्व में भारी संख्या में सशस्त्र स्वयंसेवकों ने इस युद्ध में हिस्सा लिया। 1860 में वे दक्षिण इटली और दो सिसिलियों के राज्य में प्रवेश कर गए और स्पेनी शासकों को हटाने के लिए स्थानीय किसानों का समर्थन पाने में सफल रहे। 1861 में इमेनुएल द्वितीय को एकीकृत इटली का राजा घोषित किया गया। मगर, इटली के अधिकांश निवासी जिनमें निरक्षरता की दर काफ़ी ऊँची थी, अभी भी उदारवादी-राष्ट्रवादी विचारधारा से अनजान थे। दक्षिणी इटली में जिन आम किसानों ने गैरीबॉल्डी को समर्थन दिया था, उन्होंने *इटालिया (Italia)* के बारे में कभी सुना ही नहीं था और वे मानते थे कि *ला टालिया (La Talia)* विक्टर इमेनुएल की पत्नी थी।

गतिविधि

चित्र 14 (क) को देखें। क्या आपको लगता है कि इनमें से किसी भी क्षेत्र में रहने वाले खुद को इतालवी मानते होंगे?

चित्र 14 (ख) की जाँच करें। कौन सा क्षेत्र सबसे पहले एकीकृत इटली का हिस्सा बना? सबसे आखिर में कौन सा क्षेत्र शामिल हुआ? किस साल सबसे ज्यादा राज्य एकीकृत इटली में शामिल हुए?

4.3 ब्रिटेन की अजीब दास्तान

कुछ विद्वानों ने तर्क दिया है कि राष्ट्र या राष्ट्र-राज्य का मॉडल या आदर्श ग्रेट ब्रिटेन है। ब्रिटेन में राष्ट्र-राज्य का निर्माण अचानक हुई कोई उथल-पुथल या क्रांति का परिणाम नहीं था। यह एक लंबी चलने वाली प्रक्रिया का नतीजा था। अठारहवीं सदी के पहले ब्रितानी राष्ट्र था ही नहीं। ब्रितानी द्वीपसमूह में रहने वाले लोगों–अंग्रेज़, वेल्श, स्कॉट या आयरिश–की मुख्य पहचान **नृजातीय** (Ethnic) थी। इन सभी जातीय समूहों की अपनी

चित्र 14 (क) – एकीकरण से पूर्व इटली के राज्य, 1858

चित्र 14 (ख) – एकीकरण के बाद इटली।
नक्शे में एकीकृत राज्यों के वर्षों को दर्शाया गया है।

नए शब्द

नृजातीय (Ethnic) : एक साझा नस्ली, जनजातीय या सांस्कृतिक उद्‌गम अथवा पृष्ठभूमि जिसे कोई समुदाय अपनी पहचान मानता है।

© NCERT not to be republished

सांस्कृतिक और राजनीतिक परंपराएँ थीं। लेकिन जैसे-जैसे आंग्ल राष्ट्र की धन-दौलत, अहमियत और सत्ता में वृद्धि हुई वह द्वीपसमूह के अन्य राष्ट्रों पर अपना प्रभुत्व बढ़ाने में सफल हुआ। एक लंबे टकराव और संघर्ष के बाद आंग्ल संसद ने 1688 में राजतंत्र से ताक़त छीन ली थी। इस संसद के माध्यम से एक राष्ट्र-राज्य का निर्माण हुआ जिसके केंद्र में इंग्लैंड था। इंग्लैंड और स्कॉटलैंड के बीच ऐक्ट ऑफ़ यूनियन (1707) से 'यूनाइटेड किंग्डम ऑफ़ ग्रेट ब्रिटेन' का गठन हुआ। इससे इंग्लैंड, व्यवहार में स्कॉटलैंड पर अपना प्रभुत्व जमा पाया। इसके बाद ब्रितानी संसद में आंग्ल सदस्यों का दबदबा रहा। एक ब्रितानी पहचान के विकास का अर्थ यह हुआ कि स्कॉटलैंड की खास संस्कृति और राजनीतिक संस्थानों को योजनाबद्ध तरीक़े से दबाया गया। स्कॉटिश हाइलैंड्स के निवासी जिन कैथलिक कुलों ने जब भी अपनी आज़ादी को व्यक्त करने का प्रयास किया उन्हें ज़बरदस्त दमन का सामना करना पड़ा। स्कॉटिश हाइलैंड्स के लोगों को अपनी गेलिक भाषा बोलने या अपनी राष्ट्रीय पोशाक पहनने की मनाही थी। उनमें से बहुत सारे लोगों को अपना वतन छोड़ने पर मजबूर किया गया।

आयरलैंड का भी कुछ ऐसा ही हश्र हुआ। वह देश कैथलिक और प्रोटेस्टेंट धार्मिक गुटों में गहराई में बँटा हुआ था। अंग्रेजों ने आयरलैंड में प्रोटेस्टेंट धर्म मानने वालों को बहुसंख्यक कैथलिक देश पर प्रभुत्व बढ़ाने में सहायता की। ब्रितानी प्रभाव के विरुद्ध हुए कैथलिक विद्रोहों को निर्ममता से कुचल दिया गया। वोल्फ़ टोन और उसकी यूनाइटेड आयरिशमेन (1798) की अगुवाई में हुए असफल विद्रोह के बाद 1801 में आयरलैंड को बलपूर्वक यूनाइटेड किंग्डम में शामिल कर लिया गया। एक नए 'ब्रितानी राष्ट्र' का निर्माण किया गया जिस पर हावी आंग्ल संस्कृति का प्रचार-प्रसार किया गया। नए ब्रिटेन के प्रतीक-चिह्नों, ब्रितानी झंडा (यूनियन जैक) और राष्ट्रीय गान (गॉड सेव अवर नोबल किंग) को खूब बढ़ावा दिया गया और पुराने राष्ट्र इस संघ में मातहत सहयोगी के रूप में ही रह पाए।

बॉक्स 2

ज्युसेपे गैरीबॉल्डी (1807-82) संभवत: इटली के स्वतंत्रता सेनानियों में सबसे मशहूर है। उसका संबंध एक ऐसे परिवार से था जो तटीय व्यापार में संलग्न था और वह स्वयं व्यापारिक नौसेना में एक नाविक था। 1833 में उसकी मुलाक़ात मेत्सिनी से हुई, वह 'यंग इटली' आंदोलन से जुड़ा और 1834 में पीडमॉण्ट के गणतंत्रीय विद्रोह में उसने भाग लिया। यह विद्रोह कुचल दिया गया और गैरीबॉल्डी को दक्षिण अमेरिका भागना पड़ा जहाँ वह 1848 तक निर्वासन में रहा। 1854 में उसने विक्टर इमेनुएल II का समर्थन किया जो इतालवी राज्यों को एकीकृत करने का प्रयास कर रहा था। 1860 में गैरीबॉल्डी ने दक्षिण इटली की तरफ़ *एक्सपिडिशन ऑफ़ द थाउज़ेंड* (हज़ार लोगों का अभियान) का नेतृत्व किया। इस अभियान में नए स्वयंसेवक जुड़ते चले गए और उनकी संख्या लगभग 30,000 तक पहुँच गई। वे 'रेड शर्ट्स' के नाम से लोकप्रिय हुए।

1867 में गैरीबॉल्डी के नेतृत्व में स्वयंसेवकों की एक सेना पेपल राज्यों से लड़ने रोम गई जो इटली के एकीकरण में अंतिम बाधा थी। वहाँ एक फ़्रांसीसी सैनिक टुकड़ी तैनात थी। 'रेड शर्ट्स' फ़्रांसीसी और पेपल सैनिकों के सामने टिक नहीं पाए। 1870 में जब प्रशा से युद्ध के दौरान फ़्रांस ने रोम से अपने सैनिक हटा लिए तब जाकर पेपल राज्य अंतत: इटली में सम्मिलित हुए।

चित्र 15 – गैरीबॉल्डी, सार्डीनिया-पीडमॉण्ट के राजा विक्टर इमेनुएल II को इटली नामक बूट (जूता) पहनने में मदद करते हुए। 1859 का अंग्रेज़ी व्यंग्य चित्र।

गतिविधि

चित्रकार ने गैरीबाल्डी को सार्डीनिया-पीडमॉण्ट के राजा को जूते पहनाते दिखाया है। अब इटली के नक़्शे को फिर देखें। यह व्यंग्यचित्र क्या कहने का प्रयास कर रहा है?

5 राष्ट्र की दृश्य-कल्पना

किसी शासक को एक चित्र या मूर्ति के रूप में अभिव्यक्त करना आसान है किंतु एक राष्ट्र को चेहरा कैसे दिया जा सकता है? अठारहवीं और उन्नीसवीं सदी में कलाकारों ने राष्ट्र का मानवीकरण करके इस प्रश्न को हल किया। दूसरे शब्दों में, उन्होंने एक देश को कुछ यूँ चित्रित किया जैसे वह कोई व्यक्ति हो। उस समय राष्ट्रों को नारी भेष में प्रस्तुत किया जाता था। राष्ट्र को व्यक्ति का जामा पहनाते हुए जिस नारी रूप को चुना गया वह असल जीवन में कोई खास महिला नहीं थी। यह तो राष्ट्र के अमूर्त विचार को ठोस रूप प्रदान करने का प्रयास था। यानी नारी की छवि राष्ट्र का **रूपक** बन गई।

आपको याद होगा कि फ़्रांसीसी क्रांति के दौरान कलाकारों ने स्वतंत्रता, न्याय और गणतंत्र जैसे विचारों को व्यक्त करने के लिए नारी रूपक का प्रयोग किया। इन आदर्शों को विशेष वस्तुओं या प्रतीकों से व्यक्त किया गया था। जैसा कि आपको याद होगा स्वतंत्रता का प्रतीक लाल टोपी या टूटी ज़ंजीर है और इंसाफ़ को आमतौर पर एक ऐसी महिला के प्रतीकात्मक रूप से व्यक्त किया जाता है जिसकी आँखों पर पट्टी बँधी हुई है और वह तराज़ू लिए हुए है।

इसी प्रकार के नारी रूपकों का आविष्कार कलाकारों ने उन्नीसवीं सदी में किया। फ़्रांस में उसे लोकप्रिय ईसाई नाम मारीआन दिया गया जिसने जन-राष्ट्र के विचार को रेखांकित किया। उसके चिह्न भी स्वतंत्रता और गणतंत्र के थे – लाल टोपी, तिरंगा और कलगी। मारीआन की प्रतिमाएँ सार्वजनिक चौकों पर लगाई गईं ताकि जनता को एकता के राष्ट्रीय प्रतीक की याद आती रहे और लोग उससे तादात्म्य स्थापित कर सकें। मारीआन की छवि सिक्कों और डाक टिकटों पर अंकित की गई। इसी तरह जर्मेनिया, जर्मन राष्ट्र का रूपक बन गई। चाक्षुष अभिव्यक्तियों में जर्मेनिया बलूत वृक्ष के पत्तों का मुकुट पहनती है क्योंकि जर्मन बलूत वीरता का प्रतीक है।

चित्र 16 – 1850 का डाक टिकट।
इसमें मारीआन की तसवीर बनाई गई है जो फ़्रांसीसी गणराज्य का प्रतिनिधित्व करती है।

चित्र 17 – जर्मेनिया, चित्रकार फ़िलिप वेट, 1848
चित्रकार ने जर्मेनिया के इस चित्र को सूती झंडे पर बनाया चूँकि इसे सेंट पॉल चर्च की छत से लटकना था और जहाँ मार्च 1848 में फ़्रैंकफ़र्ट संसद बुलाई गई।

नए शब्द

रूपक : जब किसी अमूर्त विचार (जैसे, लालच, ईर्ष्या, स्वतंत्रता, मुक्ति) को किसी व्यक्ति या किसी चीज़ के जरिए इंगित किया जाता है। एक रूपकात्मक कहानी के दो अर्थ होते हैं– एक शाब्दिक और एक प्रतीकात्मक।

बॉक्स 3

प्रतीकों के अर्थ

गुण	महत्त्व
टूटी हुई बेड़ियाँ	आज़ादी मिलना
बाज़-छाप कवच	जर्मन साम्राज्य की प्रतीक-शक्ति
बलूत पत्तियों का मुकुट	बहादुरी
तलवार	मुक़ाबले की तैयारी
तलवार पर लिपटी जैतून की डाली	शांति की चाह
काला, लाल और सुनहरा तिरंगा	1848 में उदारवादी-राष्ट्रवादियों का झंडा, जिसे जर्मन राज्यों के ड्यूक्स ने प्रतिबंधित घोषित कर दिया
उगते सूर्य की किरणें	एक नए युग का सूत्रपात

गतिविधि

बॉक्स 3 में दिए गए चार्ट की सहायता से वेइत की जर्मेनिया के गुणों को पहचानें और तसवीर के प्रतीकात्मक अर्थ की व्याख्या करें। 1836 की एक पुरानी रूपकात्मक तसवीर में वेइत ने काइज़र के मुकुट को उस जगह चित्रित किया था जहाँ अब उन्होंने टूटी हुई बेड़ियाँ दिखायी हैं। इस बदलाव का महत्त्व स्पष्ट करें।

चित्र 18 – 'द फ़ॉलेन जर्मेनिया' (हताश जर्मेनिया), जूलियस ह्यूबनर, 1850

गतिविधि

बताएँ कि चित्र 18 में आपको क्या दिखायी पड़ रहा है। राष्ट्र के इस रूपकात्मक चित्रण में ह्यूबनर किन ऐतिहासिक घटनाओं की ओर संकेत कर रहे हैं?

चित्र 19 – जर्मेनिया गार्डिंग द राइन (राइन नदी पर पहरा देती जर्मेनिया)।
1860 में चित्रकार लॉरेन्ज़ क्लासेन को यह चित्र बनाने का काम सौंपा गया। जर्मेनिया की तलवार पर खुदा हुआ है : 'जर्मन तलवार जर्मन राइन की रक्षा करती है'

गतिविधि

चित्र 10 को एक बार फिर देखें। कल्पना करें की आप मार्च 1848 में फ्रैंकफ़र्ट के नागरिक हैं और संसद की कार्रवाई के समय वहीं मौजूद हैं। यदि आप हॉल ऑफ़ डेप्यूटीज़ में बैठे हुए पुरुष होते तो दीवार पर लगे जर्मेनिया के बैनर को देखकर क्या महसूस करते? और अगर आप हॉल ऑफ़ डेप्यूटीज़ में बैठी महिला होतीं तो इस चित्र को देखकर क्या महसूस करतीं? दोनों भाव लिखें।

6 राष्ट्रवाद और साम्राज्यवाद

उन्नीसवीं सदी की अंतिम चौथाई तक राष्ट्रवाद का वह आदर्शवादी उदारवादी-जनतांत्रिक स्वभाव नहीं रहा जो सदी के प्रथम भाग में था। अब राष्ट्रवाद सीमित लक्ष्यों वाला संकीर्ण सिद्धांत बन गया। इस बीच के दौर में राष्ट्रवादी समूह एक-दूसरे के प्रति अनुदार होते चले गए और लड़ने के लिए हमेशा तैयार रहते थे। साथ ही प्रमुख यूरोपीय शक्तियों ने भी अपने साम्राज्यवादी उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए अधीन लोगों की राष्ट्रवादी आकांक्षाओं का इस्तेमाल किया।

1871 के बाद यूरोप में गंभीर राष्ट्रवादी तनाव का स्रोत बाल्कन क्षेत्र था। इस क्षेत्र में भौगोलिक और जातीय भिन्नता थी। इसमें आधुनिक रोमानिया, बुल्गेरिया, अल्बेनिया, यूनान, मेसिडोनिया, क्रोएशिया, बोस्निया-हर्ज़ेगोविना, स्लोवेनिया, सर्बिया और मॉन्टिनिग्रो शामिल थे। क्षेत्र के निवासियों को आमतौर पर स्लाव पुकारा जाता था। बाल्कन क्षेत्र का एक बड़ा हिस्सा ऑटोमन साम्राज्य के नियंत्रण में था। बाल्कन क्षेत्र में रूमानी राष्ट्रवाद के विचारों के फैलने और ऑटोमन साम्राज्य के विघटन से स्थिति काफ़ी विस्फोटक हो गई। उन्नीसवीं सदी में ऑटोमन साम्राज्य ने आधुनिकीकरण और आंतरिक सुधारों के ज़रिए मज़बूत बनना चाहा था किंतु इसमें इसे बहुत कम सफलता मिली। एक के बाद एक उसके अधीन यूरोपीय राष्ट्रीयताएँ उसके चंगुल से निकल कर स्वतंत्रता की घोषणा करने लगीं। बाल्कन लोगों ने आज़ादी या राजनीतिक अधिकारों के अपने दावों को राष्ट्रीयता का आधार दिया। उन्होंने इतिहास का इस्तेमाल यह साबित करने के लिए किया कि वे कभी स्वतंत्र थे किंतु तत्पश्चात विदेशी शक्तियों ने उन्हें अधीन कर लिया। अतः बाल्कन क्षेत्र के विद्रोही राष्ट्रीय समूहों ने अपने संघर्षों को लंबे समय से खोई आज़ादी को वापस पाने के प्रयासों के रूप में देखा।

जैसे-जैसे विभिन्न स्लाव राष्ट्रीय समूहों ने अपनी पहचान और स्वतंत्रता की परिभाषा तय करने की कोशिश की, बाल्कन क्षेत्र गहरे टकराव का क्षेत्र बन गया। बाल्कन राज्य एक-दूसरे से भारी ईर्ष्या करते थे और हर एक राज्य अपने लिए ज़्यादा से ज़्यादा इलाक़ा हथियाने की उम्मीद रखता था। परिस्थितियाँ और अधिक जटिल इसलिए हो गईं क्योंकि बाल्कन क्षेत्र में बड़ी शक्तियों के बीच प्रतिस्पर्धा होने लगी। इस समय यूरोपीय शक्तियों के बीच व्यापार, और उपनिवेशों के साथ नौसैनिक और सैन्य ताक़त के लिए गहरी प्रतिस्पर्धा थी। जिस तरह बाल्कन समस्या आगे बढ़ी उसमें यह प्रतिस्पर्धाएँ खुल कर सामने आईं। रूस, जर्मनी, इंग्लैंड, ऑस्ट्रो-हंगरी की हर ताक़त बाल्कन पर अन्य शक्तियों की पकड़ को कमज़ोर करके क्षेत्र में अपने प्रभाव को बढ़ाना चाहती थीं। इससे इस इलाक़े में कई युद्ध हुए और अंततः प्रथम विश्व युद्ध हुआ।

2019-20

© NCERT not to be republished

चित्र 20 – ब्रिटिश साम्राज्य का यशगान करता एक मानचित्र।

सबसे ऊपर फ़रिश्ते स्वतंत्रता का बैनर थामे दिखायी देते हैं। अग्रभाग में ब्रिटिश राष्ट्र का प्रतीक–ब्रितानिया–विजयभाव के साथ भूमंडल के ऊपर बैठा है। उपनिवेशों को शेर, हाथी, वन और आदिम समुदायों की छवियों के ज़रिए दर्शाया गया है। दुनिया पर प्रभुत्व को ब्रिटिश राष्ट्रीय गौरव का विषय बताया गया है।

साम्राज्यवाद से जुड़ कर राष्ट्रवाद 1914 में यूरोप को महाविपदा की ओर ले गया। लेकिन इस बीच विश्व के अनेक देशों ने जिनका उन्नीसवीं सदी में यूरोपीय शक्तियों ने औपनिवेशीकरण किया था, साम्राज्यवादी प्रभुत्व का विरोध करने लगे। हर तरफ़ जो साम्राज्य विरोधी आंदोलन विकसित हुए इस अर्थ में राष्ट्रवादी थे कि वे सभी स्वतंत्र राष्ट्र–राज्य का निर्माण करने के लिए संघर्ष कर रहे थे। वे सभी एक सामूहिक राष्ट्रीय एकता की भावना से प्रेरित थे जो साम्राज्यवाद–विरोध की प्रक्रिया में उभरी। राष्ट्रवाद के यूरोपीय विचार कहीं और नहीं दोहराए गए क्योंकि हर जगह लोगों ने अपनी तरह का विशिष्ट राष्ट्रवाद विकसित किया। मगर यह विचार कि समाजों को 'राष्ट्र–राज्यों' में गठित किया जाना चाहिए, अब स्वाभाविक और सार्वभौम मान लिया गया।

संक्षेप में लिखें

1. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखें–
   (क) ज्युसेपे मेत्सिनी
   (ख) काउंट कैमिलो दे कावूर
   (ग) यूनानी स्वतंत्रता युद्ध
   (घ) फ़्रैंकफ़र्ट संसद
   (ङ) राष्ट्रवादी संघर्षों में महिलाओं की भूमिका
2. फ़्रांसीसी लोगों के बीच सामूहिक पहचान का भाव पैदा करने के लिए फ़्रांसीसी क्रांतिकारियों ने क्या क़दम उठाए?
3. मारीआन और जर्मेनिया कौन थे? जिस तरह उन्हें चित्रित किया गया उसका क्या महत्त्व था?
4. जर्मन एकीकरण की प्रक्रिया का संक्षेप में पता लगाएँ।
5. अपने शासन वाले क्षेत्रों में शासन व्यवस्था को ज्यादा कुशल बनाने के लिए नेपोलियन ने क्या बदलाव किए?

संक्षेप में लिखें

© NCERT not to be republished

चर्चा करें

1. उदारवादियों की 1848 की क्रांति का क्या अर्थ लगाया जाता है? उदारवादियों ने किन राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक विचारों को बढ़ावा दिया?
2. यूरोप में राष्ट्रवाद के विकास में संस्कृति के योगदान को दर्शाने के लिए तीन उदाहरण दें।
3. किन्हीं दो देशों पर ध्यान केंद्रित करते हुए बताएँ कि उन्नीसवीं सदी में राष्ट्र किस प्रकार विकसित हुए।
4. ब्रिटेन में राष्ट्रवाद का इतिहास शेष यूरोप की तुलना में किस प्रकार भिन्न था?
5. बाल्कन प्रदेशों में राष्ट्रवादी तनाव क्यों पनपा?

चर्चा करें

परियोजना कार्य

यूरोप से बाहर के देशों में राष्ट्रवादी प्रतीकों के बारे में और जानकारियाँ इकट्ठा करें। एक या दो देशों के विषय में ऐसी तसवीरें, पोस्टर्स और संगीत इकट्ठा करें जो राष्ट्रवाद के प्रतीक थे। वे यूरोपीय राष्ट्रवाद के प्रतीकों से भिन्न कैसे हैं?

परियोजना कार्य

1067CH02

भारत में राष्ट्रवाद

जैसा कि आप देख चुके हैं, यूरोप में आधुनिक राष्ट्रवाद के साथ ही राष्ट्र-राज्यों का भी उदय हुआ। इससे अपने बारे में लोगों की समझ बदलने लगी। वे कौन हैं, उनकी पहचान किस बात से परिभाषित होती है, यह भावना बदल गई। उनमें राष्ट्र के प्रति लगाव का भाव पैदा होने लगा। नए प्रतीकों और चिह्नों ने, नए गीतों और विचारों ने नए संपर्क स्थापित किए और समुदायों की सीमाओं को दोबारा परिभाषित कर दिया। ज़्यादातर देशों में इस नयी राष्ट्रीय पहचान का निर्माण एक लंबी प्रक्रिया में हुआ। आइए देखें कि हमारे देश में यह चेतना किस तरह पैदा हुई?

दूसरे उपनिवेशों की तरह भारत में भी आधुनिक राष्ट्रवाद के उदय की परिघटना उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन के साथ गहरे तौर पर जुड़ी हुई थी। औपनिवेशिक शासकों के ख़िलाफ़ संघर्ष के दौरान लोग आपसी एकता को पहचानने लगे थे। उत्पीड़न और दमन के साझा भाव ने विभिन्न समूहों को एक-दूसरे से बाँध दिया था। लेकिन हर वर्ग और समूह पर उपनिवेशवाद का असर एक जैसा नहीं था। उनके अनुभव भी अलग थे और स्वतंत्रता के मायने भी भिन्न थे। महात्मा गांधी के नेतृत्व में कांग्रेस ने इन समूहों को इकट्ठा करके एक विशाल आंदोलन खड़ा किया। परंतु इस एकता में टकराव के बिंदु भी निहित थे।

पहले की एक और पुस्तक में भी आपने भारत में राष्ट्रवाद के उदय का अध्ययन किया था। वहाँ आपने बीसवीं सदी के पहले दशक तक की कहानी पढ़ी थी। इस अध्याय में हम 1920 के दशक से आगे अध्ययन करेंगे और असहयोग आंदोलन तथा सविनय अवज्ञा आंदोलन के बारे में पढ़ेंगे। हम ये देखेंगे कि कांग्रेस ने राष्ट्रीय आंदोलन को विकसित करने के लिए किस तरह के प्रयास किए, इस आंदोलन में विभिन्न सामाजिक समूहों ने किस तरह हिस्सा लिया और किस तरह राष्ट्रवाद ने लोगों की कल्पना को नयी उड़ान दे दी।

चित्र 1 – 6 अप्रैल 1919
राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान सड़कों पर इस तरह के बड़े जुलूस आम बात थी।

© NCERT not to be republished

1 पहला विश्वयुद्ध, ख़िलाफ़त और असहयोग

1919 से बाद के सालों में हम देखते हैं कि राष्ट्रीय आंदोलन नए इलाक़ों तक फैल गया था, उसमें नए सामाजिक समूह शामिल हो गए थे और संघर्ष की नयी पद्धतियाँ सामने आ रही थीं। इन बदलावों को हम कैसे समझेंगे? उनके क्या परिणाम हुए?

सबसे पहली बात यह है कि विश्वयुद्ध ने एक नयी आर्थिक और राजनीतिक स्थिति पैदा कर दी थी। इसके कारण रक्षा व्यय में भारी इज़ाफ़ा हुआ। इस खर्चे की भरपाई करने के लिए युद्ध के नाम पर क़र्ज़े लिए गए और करों में वृद्धि की गई। सीमा शुल्क बढ़ा दिया गया और आयकर शुरू किया गया। युद्ध के दौरान क़ीमतें तेज़ी से बढ़ रही थीं। 1913 से 1918 के बीच क़ीमतें दोगुना हो चुकी थीं जिसके कारण आम लोगों की मुश्किलें बढ़ गई थीं। गाँवों में सिपाहियों को **जबरन भर्ती** किया गया जिसके कारण ग्रामीण इलाक़ों में व्यापक गुस्सा था। 1918-19 और 1920-21 में देश के बहुत सारे हिस्सों में फसल खराब हो गई जिसके कारण खाद्य पदार्थों का भारी अभाव पैदा हो गया। उसी समय फ़्लू की महामारी फैल गई। 1921 की जनगणना के मुताबिक़ दुर्भिक्ष और महामारी के कारण 120-130 लाख लोग मारे गए।

नए शब्द

जबरन भर्ती : इस प्रक्रिया में अंग्रेज़ भारत के लोगों को ज़बरदस्ती सेना में भर्ती कर लेते थे।

लोगों को उम्मीद थी कि युद्ध खत्म होने के बाद उनकी मुसीबतें कम हो जाएँगी। लेकिन ऐसा नहीं हुआ।

इसी समय एक नया नेता सामने आया और उसने संघर्ष का एक नया ढंग, एक नया तरीक़ा पेश किया।

1.1 सत्याग्रह का विचार

महात्मा गांधी जनवरी 1915 में भारत लौटे। इससे पहले वे दक्षिण अफ़्रीका में थे। उन्होंने एक नए तरह के जनांदोलन के रास्ते पर चलते हुए वहाँ की

चित्र 2 - दक्षिण अफ़्रीका में भारतीय मज़दूर फ़ोकस्रस्ट से गुज़र रहे हैं, 6 नवंबर 1913
न्यूकैसल से ट्रांसवाल की ओर बढ़ रहे इस जुलूस में महात्मा गांधी मज़दूरों का नेतृत्व कर रहे थे। जब जुलूस को रोका गया और गांधीजी को गिरफ़्तार किया गया तो हज़ारों मज़दूर अश्वेतों के अधिकारों का हनन करने वाले नस्लभेदी क़ानूनों के ख़िलाफ़ सत्याग्रह में शामिल हो गए।

© NCERT not to be republished

नस्लभेदी सरकार से सफलतापूर्वक लोहा लिया था। इस पद्धति को वे सत्याग्रह कहते थे। सत्याग्रह के विचार में सत्य की शक्ति पर आग्रह और सत्य की खोज पर ज़ोर दिया जाता था। इसका अर्थ यह था कि अगर आपका उद्देश्य सच्चा है, यदि आपका संघर्ष अन्याय के ख़िलाफ़ है तो उत्पीड़क से मुक़ाबला करने के लिए आपको किसी शारीरिक बल की आवश्यकता नहीं है। प्रतिशोध की भावना या आक्रामकता का सहारा लिए बिना सत्याग्रही केवल अहिंसा के सहारे भी अपने संघर्ष में सफल हो सकता है। इसके लिए दमनकारी शत्रु की चेतना को झिंझोड़ना चाहिए। उत्पीड़क शत्रु को ही नहीं बल्कि सभी लोगों को हिंसा के ज़रिए सत्य को स्वीकार करने पर विवश करने की बजाय सच्चाई को देखने और सहज भाव से स्वीकार करने के लिए प्रेरित किया जाना चाहिए। इस संघर्ष में अंततः सत्य की ही जीत होती है। गांधीजी का विश्वास था की अहिंसा का यह *धर्म* सभी भारतीयों को एकता के सूत्र में बाँध सकता है।

भारत आने के बाद गांधीजी ने कई स्थानों पर सत्याग्रह आंदोलन चलाया। 1917 में उन्होंने बिहार के चंपारन इलाक़े का दौरा किया और दमनकारी बागान व्यवस्था के ख़िलाफ किसानों को संघर्ष के लिए प्रेरित किया। 1917 में उन्होंने गुजरात के खेड़ा जिले के किसानों की मदद के लिए सत्याग्रह का आयोजन किया। फ़सल खराब हो जाने और प्लेग की महामारी के कारण खेड़ा जिले के किसान लगान चुकाने की हालत में नहीं थे। वे चाहते थे कि लगान वसूली में ढील दी जाए। 1918 में गांधीजी सूती कपड़ा कारखानों के मज़दूरों के बीच सत्याग्रह आंदोलन चलाने अहमदाबाद जा पहुँचे।

1.2 रॉलट एक्ट

इस कामयाबी से उत्साहित गांधीजी ने 1919 में प्रस्तावित रॉलट एक्ट (1919) के ख़िलाफ़ एक राष्ट्रव्यापी सत्याग्रह आंदोलन चलाने का फ़ैसला लिया। भारतीय सदस्यों के भारी विरोध के बावजूद इस क़ानून को इम्पीरियल लेजिस्लेटिव काउंसिल ने बहुत जल्दबाजी में पारित कर दिया था। इस क़ानून के ज़रिए सरकार को राजनीतिक गतिविधियों को कुचलने और राजनीतिक क़ैदियों को दो साल तक बिना मुक़दमा चलाए जेल में बंद रखने का अधिकार मिल गया था। महात्मा गांधी ऐसे अन्यायपूर्ण क़ानूनों के ख़िलाफ़ अहिंसक ढंग से नागरिक अवज्ञा चाहते थे। इसे 6 अप्रैल को एक हड़ताल से शुरू होना था।

विभिन्न शहरों में रैली-जुलूसों का आयोजन किया गया। रेलवे वर्कशॉप्स में कामगार हड़ताल पर चले गए। दुकानें बंद हो गईं। इस व्यापक जन-उभार से चिंतित तथा रेलवे व टेलीग्राफ़ जैसी संचार सुविधाओं के भंग हो जाने की आशंका से भयभीत अंग्रेजों ने राष्ट्रवादियों पर दमन शुरू कर दिया। अमृतसर में बहुत सारे स्थानीय नेताओं को हिरासत में ले लिया गया। गांधीजी के दिल्ली में प्रवेश करने पर पाबंदी लगा दी गई। 10 अप्रैल को पुलिस ने अमृतसर में एक शांतिपूर्ण जुलूस पर गोली चला दी। इसके बाद लोग बैंकों, डाकखानों और रेलवे स्टेशनों पर हमले करने लगे। मार्शल लॉ लागू कर दिया गया और जनरल डायर ने कमान सँभाल ली।

स्रोत-क

***सत्याग्रह* पर महात्मा गांधी के विचार**

'कहा जाता है कि "निष्क्रिय प्रतिरोध" दुर्बलों का हथियार है। लेकिन इस लेख में जिस शक्ति की बात की गई है उसे केवल ताक़तवर ही इस्तेमाल कर सकते हैं। यह निष्क्रिय प्रतिरोध की शक्ति नहीं है; इसके लिए तो सघन सक्रियता चाहिए। दक्षिण अफ़्रीका का आंदोलन निष्क्रिय नहीं बल्कि सक्रिय आंदोलन था...।

'सत्याग्रह शारीरिक बल नहीं है। सत्याग्रही अपने शत्रु को कष्ट नहीं पहुँचाता; वह अपने शत्रु का विनाश नहीं चाहता। ...सत्याग्रह के प्रयोग में दुर्भावना के लिए कोई स्थान नहीं होता।

'सत्याग्रह तो शुद्ध आत्मबल है। सत्य ही आत्मा का आधार होता है। इसीलिए इस बल को सत्याग्रह का नाम दिया गया है। आत्मा ज्ञान से हमेशा लैस होती है। इसमें प्यार की लौ जलती है...। अहिंसा सर्वोच्च धर्म है...।

'इसमें कोई संदेह नहीं कि भारत विनाशकारी शस्त्रों के मामले में ब्रिटेन या यूरोप का मुक़ाबला नहीं कर सकता। अंग्रेज़ युद्ध के देवता की उपासना करते हैं। वे सब हथियारों से लैस हो सकते हैं, होते जा रहे हैं। भारत में करोड़ों लोग कभी हथियार लेकर नहीं चल सकते। उन्होंने अहिंसा के धर्म को आत्मसात् कर लिया है...।'

स्रोत

गतिविधि

स्रोत-क को ध्यान से पढ़ें। जब महात्मा गांधी ने सत्याग्रह को सक्रिय प्रतिरोध कहा तो इससे उनका क्या आशय था?

© NCERT not to be republished

13 अप्रैल को जलियाँवाला बाग़ हत्याकांड हुआ। उस दिन अमृतसर में बहुत सारे गाँव वाले सालाना वैसाखी मेले में शिरकत करने के लिए जलियाँवाला बाग़ मैदान में जमा हुए थे। काफी लोग तो सरकार द्वारा लागू किए गए दमनकारी कानून का विरोध प्रकट करने के लिए एकत्रित हुए। यह मैदान चारों तरफ़ से बंद था। शहर से बाहर होने के कारण वहाँ जुटे लोगों को यह पता नहीं था कि इलाक़े में मार्शल लॉ लागू किया जा चुका है। जनरल डायर हथियारबंद सैनिकों के साथ वहाँ पहुँचा और जाते ही उसने मैदान से बाहर निकलने के सारे रास्तों को बंद कर दिया। इसके बाद उसके सिपाहियों ने भीड़ पर अंधाधुंध गोलियाँ चला दीं। सैंकड़ों लोग मारे गए। बाद में उसने बताया कि वह सत्याग्रहियों के ज़हन में दहशत और विस्मय का भाव पैदा करके 'एक नैतिक प्रभाव' उत्पन्न करना चाहता था।

चित्र 3 - जनरल डायर के हुक्म से सिपाही लोगों को घिसट कर चलने के लिए मजबूर कर रहे हैं, पंजाब, 1919

जैसे-जैसे जलियाँवाला बाग़ की खबर फैली, उत्तर भारत के बहुत सारे शहरों में लोग सड़कों पर उतरने लगे। हड़तालें होने लगीं, लोग पुलिस से मोर्चा लेने लगे और सरकारी इमारतों पर हमला करने लगे। सरकार ने इन कार्रवाइयों को निर्ममता से कुचलने का रास्ता अपनाया। सरकार लोगों को अपमानित और आतंकित करना चाहती थी। सत्याग्रहियों को ज़मीन पर नाक रगड़ने के लिए, सड़क पर घिसट कर चलने और सारे साहिबों को सलाम मारने के लिए मजबूर किया गया। लोगों को कोड़े मारे गए और गाँवों (गुजराँवाला, पंजाब) पर बम बरसाए गए। हिंसा फैलते देख महात्मा गांधी ने आंदोलन वापस ले लिया।

भले ही रॉलट सत्याग्रह एक बहुत बड़ा आंदोलन था लेकिन अभी भी वह मुख्य रूप से शहरों और क़स्बों तक ही सीमित था। महात्मा गांधी पूरे भारत में और भी ज़्यादा जनाधार वाला आंदोलन खड़ा करना चाहते थे। लेकिन उनका मानना था कि हिंदू-मुसलमानों को एक-दूसरे के नज़दीक लाए बिना ऐसा कोई आंदोलन नहीं चलाया जा सकता। उन्हें लगता था कि ख़िलाफ़त का मुद्दा उठाकर वे दोनों समुदायों को नज़दीक ला सकते हैं। पहले विश्वयुद्ध में ऑटोमन तुर्की की हार हो चुकी थी। इस आशय की अफ़वाहें फैली हुई थीं कि इस्लामिक विश्व के आध्यात्मिक नेता (ख़लीफ़ा) ऑटोमन सम्राट पर एक बहुत सख्त शांति संधि थोपी जाएगी। ख़लीफ़ा की तात्कालिक शक्तियों की रक्षा के लिए मार्च 1919 में बंबई में एक ख़िलाफ़त समिति का गठन किया गया था। मोहम्मद अली और शौकत अली बंधुओं के साथ-साथ कई युवा मुस्लिम नेताओं ने इस मुद्दे पर संयुक्त जनकार्रवाई की संभावना तलाशने के लिए महात्मा गांधी के साथ चर्चा शुरू कर दी थी। सितंबर 1920 में कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन में महात्मा गांधी ने भी दूसरे नेताओं को इस बात पर राज़ी कर लिया कि ख़िलाफ़त आंदोलन के समर्थन और स्वराज के लिए एक असहयोग आंदोलन शुरू किया जाना चाहिए।

1.3 असहयोग ही क्यों?

अपनी प्रसिद्ध पुस्तक *हिंद स्वराज* (1909) में महात्मा गांधी ने कहा था कि भारत में ब्रिटिश शासन भारतीयों के सहयोग से ही स्थापित हुआ था और यह शासन इसी सहयोग के कारण चल पा रहा है। अगर भारत के लोग अपना सहयोग वापस ले लें तो साल भर के भीतर ब्रिटिश शासन ढह जाएगा और स्वराज की स्थापना हो जाएगी।

असहयोग का विचार आंदोलन कैसे बन सकता था? गांधीजी का सुझाव था कि यह आंदोलन चरणबद्ध तरीक़े से आगे बढ़ना चाहिए। सबसे पहले लोगों को सरकार द्वारा दी गई पदवियाँ लौटा देनी चाहिए और सरकारी नौकरियों, सेना, पुलिस, अदालतों, विधायी परिषदों, स्कूलों और विदेशी वस्तुओं का **बहिष्कार** करना चाहिए। अगर सरकार दमन का रास्ता अपनाती है तो व्यापक सविनय अवज्ञा अभियान भी शुरू किया जाए। 1920 की गर्मियों में गांधीजी और शौकत अली आंदोलन के लिए समर्थन जुटाते हुए देश भर में यात्राएँ करते रहे।

नए शब्द

बहिष्कार : किसी के साथ संपर्क रखने और जुड़ने से इनकार करना या गतिविधियों में हिस्सेदारी, चीजों की खरीद व इस्तेमाल से इनकार करना। आमतौर पर यह विरोध का एक रूप होता है।

कांग्रेस में बहुत सारे लोग इन प्रस्तावों पर सशंकित थे। वे नवंबर 1920 में विधायी परिषद के लिए होने वाले चुनावों का बहिष्कार करने में हिचकिचा रहे थे। उन्हें भय था कि इस आंदोलन में लोग हिंसा कर सकते हैं। सितंबर से दिसंबर तक कांग्रेस में भारी खींचतान चलती रही। कुछ समय के लिए ऐसा लगा कि आंदोलन के समर्थकों और विरोधियों के बीच सहमति नहीं बन पाएगी। आखिरकार दिसंबर 1920 में कांग्रेस के नागपुर अधिवेशन में एक समझौता हुआ और असहयोग कार्यक्रम पर स्वीकृति की मोहर लगा दी गई।

आंदोलन किस तरह आगे बढ़ा? उसमें किन लोगों ने हिस्सा लिया? विभिन्न सामाजिक समूहों ने असहयोग के विचार को किस तरह समझा?

© NCERT not to be republished

चित्र 4 – विदेशी कपड़े का बहिष्कार, जुलाई 1922
विदेशी कपड़ों को पश्चिमी आर्थिक एवं सांस्कृतिक प्रभुत्व का प्रतीक माना जाता था।

2 आंदोलन के भीतर अलग-अलग धाराएँ

असहयोग-ख़िलाफ़त आंदोलन जनवरी 1921 में शुरू हुआ। इस आंदोलन में विभिन्न सामाजिक समूहों ने हिस्सा लिया लेकिन हरेक की अपनी-अपनी आकांक्षाएँ थीं। सभी ने स्वराज के आह्वान को स्वीकार तो किया लेकिन उनके लिए उसके अर्थ अलग-अलग थे।

2.1 शहरों में आंदोलन

आंदोलन की शुरुआत शहरी मध्यवर्ग की हिस्सेदारी के साथ हुई। हज़ारों विद्यार्थियों ने स्कूल-कॉलेज छोड़ दिए। हेडमास्टरों और शिक्षकों ने इस्तीफ़े सौंप दिए। वकीलों ने मुक़दमे लड़ना बंद कर दिया। मद्रास के अलावा ज़्यादातर प्रांतों में परिषद् चुनावों का बहिष्कार किया गया। मद्रास में ग़ैर-ब्राह्मणों द्वारा बनाई गई जस्टिस पार्टी का मानना था कि काउंसिल में प्रवेश के ज़रिए उन्हें वे अधिकार मिल सकते हैं जो सामान्य रूप से केवल ब्राह्मणों को मिल पाते हैं इसलिए इस पार्टी ने चुनावों का बहिष्कार नहीं किया।

आर्थिक मोर्चे पर असहयोग का असर और भी ज़्यादा नाटकीय रहा। विदेशी सामानों का बहिष्कार किया गया, शराब की दुकानों की **पिकेटिंग** की गई, और विदेशी कपड़ों की होली जलाई जाने लगी। 1921 से 1922 के बीच विदेशी कपड़ों का आयात आधा रह गया था। उसकी क़ीमत 102 करोड़ से घटकर 57 करोड़ रह गई। बहुत सारे स्थानों पर व्यापारियों ने विदेशी चीजों का व्यापार करने या विदेशी व्यापार में पैसा लगाने से इनकार कर दिया। जब बहिष्कार आंदोलन फैला और लोग आयातित कपड़े को छोड़कर केवल भारतीय कपड़े पहनने लगे तो भारतीय कपड़ा मिलों और हथकरघों का उत्पादन भी बढ़ने लगा।

नए शब्द

पिकेटिंग : प्रदर्शन या विरोध का एक ऐसा स्वरूप जिसमें लोग किसी दुकान, फ़ैक्ट्री या दफ़्तर के भीतर जाने का रास्ता रोक लेते हैं।

कुछ समय बाद शहरों में यह आंदोलन धीमा पड़ने लगा। इसके कई कारण थे। खादी का कपड़ा मिलों में भारी पैमाने पर बनने वाले कपड़ों के मुक़ाबले प्रायः मँहगा होता था और ग़रीब उसे नहीं खरीद सकते थे। वे मिलों के कपड़े का लंबे समय तक बहिष्कार कैसे कर सकते थे? ब्रिटिश संस्थानों के बहिष्कार से भी समस्या पैदा हो गई। आंदोलन की कामयाबी के लिए वैकल्पिक भारतीय संस्थानों की स्थापना ज़रूरी थी ताकि ब्रिटिश संस्थानों के स्थान पर उनका प्रयोग किया जा सके। लेकिन वैकल्पिक संस्थानों की स्थापना की प्रक्रिया बहुत धीमी थी। फलस्वरूप, विद्यार्थी और शिक्षक सरकारी स्कूलों में लौटने लगे और वकील दोबारा सरकारी अदालतों में दिखाई देने लगे।

गतिविधि

मान लीजिए कि साल 1920 चल रहा है। आप सरकारी स्कूल के विद्यार्थी हैं। विद्यार्थियों को असहयोग आंदोलन से जुड़ने का आह्वान करते हुए एक पोस्टर बनाइए।

2.2 ग्रामीण इलाक़ों में विद्रोह

शहरों से बढ़कर असहयोग आंदोलन देहात में भी फैल गया था। युद्ध के बाद देश के विभिन्न भागों में चले किसानों व आदिवासियों के संघर्ष भी इस आंदोलन में समा गए।

© NCERT not to be republished

अवध में संन्यासी बाबा रामचंद्र किसानों का नेतृत्व कर रहे थे। बाबा रामचंद्र इससे पहले फिजी में **गिरमिटिया मज़दूर** के तौर पर काम कर चुके थे। उनका आंदोलन तालुक़दारों और ज़मींदारों के ख़िलाफ़ था जो किसानों से भारी-भरकम लगान और तरह-तरह के कर वसूल कर रहे थे। किसानों को **बेगार** करनी पड़ती थी। पट्टेदार के तौर पर उनके पट्टे निश्चित नहीं होते थे। उन्हें बार-बार पट्टे की जमीन से हटा दिया जाता था ताकि जमीन पर उनका कोई अधिकार स्थापित न हो सके। किसानों की माँग थी कि लगान कम किया जाए, बेगार खत्म हो और दमनकारी ज़मींदारों का सामाजिक बहिष्कार किया जाए। बहुत सारे स्थानों पर ज़मींदारों को नाई-धोबी की सुविधाओं से भी वंचित करने के लिए पंचायतों ने *नाई-धोबी* बंद का फ़ैसला लिया। जून 1920 में जवाहर लाल नेहरू ने अवध के गाँवों का दौरा किया, गाँववालों से बातचीत की और उनकी व्यथा समझने का प्रयास किया। अक्तूबर तक जवाहर लाल नेहरू, बाबा रामचंद्र तथा कुछ अन्य लोगों के नेतृत्व में अवध किसान सभा का गठन कर लिया गया। महीने भर में इस पूरे इलाक़े के गाँवों में संगठन की 300 से ज़्यादा शाखाएँ बन चुकी थीं। अगले साल जब असहयोग आंदोलन शुरू हुआ तो कांग्रेस ने अवध के किसान संघर्ष को इस आंदोलन में शामिल करने का प्रयास किया लेकिन किसानों के आंदोलन में ऐसे स्वरूप विकसित हो चुके थे जिनसे कांग्रेस का नेतृत्व खुश नहीं था। 1921 में जब आंदोलन फैला तो तालुक़दारों और व्यापारियों के मकानों पर हमले होने लगे, बाज़ारों में लूटपाट होने लगी और अनाज के गोदामों पर क़ब्ज़ा कर लिया गया। बहुत सारे स्थानों पर स्थानीय नेता किसानों को समझा रहे थे कि गांधीजी ने ऐलान कर दिया है कि अब कोई लगान नहीं भरेगा और जमीन गरीबों में बाँट दी जाएगी। महात्मा का नाम लेकर लोग अपनी सारी कार्रवाइयों और आकांक्षाओं को सही ठहरा रहे थे।

आदिवासी किसानों ने महात्मा गांधी के संदेश और स्वराज के विचार का कुछ और ही मतलब निकाला। उदाहरण के लिए, आंध्र प्रदेश की गूडेम पहाड़ियों में 1920 के दशक की शुरुआत में एक उग्र गुरिल्ला आंदोलन फैल गया। कांग्रेस इस तरह के संघर्ष को कभी स्वीकार नहीं कर सकती थी। अन्य वन

नए शब्द

बेगार : बिना किसी पारिश्रमिक के काम करवाना।

गिरमिटिया मज़दूर : औपनिवेशिक शासन के दौरान बहुत सारे लोगों को काम करने के लिए फ़िजी, गयाना, वेस्टइंडीज़ आदि स्थानों पर ले जाया गया था जिन्हें बाद में गिरमिटिया कहा जाने लगा। उन्हें एक एग्रीमेंट (अनुबंध) के तहत ले जाया जाता था। बाद में इसी एग्रीमेंट को ये मज़दूर गिरमिट कहने लगे जिससे आगे चलकर इन मज़दूरों को गिरमिटिया मजदूर कहा जाने लगा। अंग्रेज़ी में इन्हें Indentured Labour कहा जाता है।

गतिविधि

अगर आप 1920 में उत्तर प्रदेश में किसान होते तो स्वराज के लिए गांधीजी के आह्वान पर क्या प्रतिक्रिया देते? अपने उत्तर के साथ कारण भी बताइए।

1928 में वल्लभ भाई पटेल ने गुजरात के बारदोली तालुका में किसान आंदोलन का नेतृत्व किया, जो कि भू-राजस्व को बढ़ाने के खिलाफ़ था। यह बारदोली सत्याग्रह के नाम से जाना जाता है और यह आंदोलन वल्लभ भाई पटेल के सक्षम नेतृत्व के तहत सफल रहा। इस संघर्ष का प्रचार व्यापक रूप से हुआ और इसे भारत के कई हिस्सों में अत्यधिक सहानुभूति प्राप्त हुई।

स्रोत-ख

6 जनवरी 1921 को संयुक्त प्रांत में रायबरेली के पास पुलिस ने किसानों पर गोली चलाई। जवाहरलाल नेहरू घटनास्थल का दौरा करना चाहते थे। लेकिन पुलिस ने उन्हें रोक दिया। गुस्से में नेहरू ने अपने आसपास खड़े किसानों को ही संबोधित किया। बाद में इस सभा के बारे में उन्होंने बताया था–

'उनका आचरण खतरे के सामने होते हुए भी बहादुर, शांत और निश्चिंत लोगों जैसे था। पता नहीं उन्हें क्या महसूस हो रहा था लेकिन मुझे पता है कि मैं क्या महसूस कर रहा था। एक पल के लिए मेरा भी खून खौल उठा था, अहिंसा तो न जाने कहाँ छूट गई थी – लेकिन सिर्फ़ एक पल के लिए। जिसे ईश्वर की कृपा से हमें विजयद्वार पर ले जाने के लिए भेजा गया है उस महान नेता के विचार मुझे याद आ गए और मैंने देखा कि मेरे आसपास बैठे और खड़े किसान मेरे से कम उत्तेजित, मेरे से ज़्यादा शांत थे। मेरी दुर्बलता का यह क्षण बीत गया। मैंने पूरी विनम्रता के साथ अहिंसा पर उनसे बात की – यह सबक उनसे ज़्यादा मुझे सीखना था – उन्होंने मेरी बात समझी और शांति से चले गए।

सर्वपल्ली गोपाल, *जवाहरलाल नेहरू : एक जीवनी*, खंड 1 में उद्धृत।

स्रोत

© NCERT not to be republished

क्षेत्रों की तरह यहाँ भी अंग्रेजी सरकार ने बड़े-बड़े जंगलों में लोगों के दाखिल होने पर पाबंदी लगा दी थी। लोग इन जंगलों में न तो मवेशियों को चरा सकते थे न ही जलावन के लिए लकड़ी और फल बीन सकते थे। इससे पहाड़ों के लोग परेशान और गुस्सा थे। न केवल उनकी रोज़ी-रोटी पर असर पड़ रहा था बल्कि उन्हें लगता था कि उनके परंपरागत अधिकार भी छीने जा रहे हैं। जब सरकार ने उन्हें सड़कों के निर्माण के लिए बेगार करने पर मजबूर किया तो लोगों ने बग़ावत कर दी। उनका नेतृत्व करने वाले अल्लूरी सीताराम राजू एक दिलचस्प व्यक्ति थे। उनका दावा था कि उनके पास बहुत सारी विशेष शक्तियाँ हैं : वह सटीक खगोलीय अनुमान लगा सकते हैं, लोगों को स्वस्थ कर सकते हैं तथा गोलियाँ भी उन्हें नहीं मार सकतीं। राजू के व्यक्तित्व से चमत्कृत विद्रोहियों को विश्वास था कि वह ईश्वर का अवतार है। राजू महात्मा गांधी की महानता के गुण गाते थे। उनका कहना था कि वह असहयोग आंदोलन से प्रेरित हैं। उन्होंने लोगों को खादी पहनने तथा शराब छोड़ने के लिए प्रेरित किया। साथ ही उन्होंने यह दावा भी किया कि भारत अहिंसा के बल पर नहीं बल्कि केवल बलप्रयोग के ज़रिए ही आज़ाद हो सकता है। गूडेम विद्रोहियों ने पुलिस थानों पर हमले किए, ब्रिटिश अधिकारियों को मारने की कोशिश की और स्वराज प्राप्ति के लिए गुरिल्ला युद्ध चलाते रहे। 1924 में राजू को फाँसी दे दी गई। राजू अपने लोगों के बीच लोकनायक बन चुके।

2.3 बागानों में स्वराज

महात्मा गांधी के विचारों और स्वराज की अवधारणा के बारे में मज़दूरों की अपनी समझ थी। असम के बागानी मज़दूरों के लिए आज़ादी का मतलब यह था कि वे उन चारदीवारियों से जब चाहे आ-जा सकते हैं जिनमें उनको बंद करके रखा गया था। उनके लिए आज़ादी का मतलब था कि वे अपने गाँवों से संपर्क रख पाएँगे। 1859 के इनलैंड इमिग्रेशन एक्ट के तहत बाग़ानों में काम करने वाले मज़दूरों को बिना इजाज़त बागान से बाहर जाने की छूट नहीं होती थी और यह इजाज़त उन्हें विरले ही कभी मिलती थी। जब उन्होंने असहयोग आंदोलन के बारे में सुना तो हज़ारों मज़दूर अपने अधिकारियों की अवहेलना करने लगे। उन्होंने बागान छोड़ दिए और अपने घर को चल दिए। उनको लगता था कि अब गांधी राज आ रहा है इसलिए अब तो हरेक को गाँव में ज़मीन मिल जाएगी। लेकिन वे अपनी मंज़िल पर नहीं पहुँच पाए। रेलवे और स्टीमरों की हड़ताल के कारण वे रास्ते में ही फँसे रह गए। उन्हें पुलिस ने पकड़ लिया और उनकी बुरी तरह पिटाई हुई।

इन स्थानीय आंदोलनों की अपेक्षाओं और दृष्टियों को कांग्रेस के कार्यक्रम में परिभाषित नहीं किया गया था। उन्होंने तो स्वराज शब्द का अपने-अपने हिसाब से अर्थ निकाल लिया था। उनके लिए यह एक ऐसे युग का द्योतक था जब सारे कष्ट और सारी मुसीबतें खत्म हो जाएँगी। फिर भी, जब

गतिविधि

राष्ट्रीय आंदोलन में शामिल ऐसे अन्य लोगों के बारे में पता लगाइए जिन्हें अंग्रेज़ों ने पकड़कर मौत के घाट उतार दिया था। क्या ऐसा ही उदाहरण आप इंडो-चाइना (अध्याय 2) के राष्ट्रीय आंदोलन में भी बता सकते हैं?

© NCERT not to be republished

आदिवासियों ने गांधीजी के नाम का नारा लगाया और 'स्वतंत्र भारत' की हुंकार भरी तो वे एक अखिल भारतीय आंदोलन से भी भावनात्मक स्तर पर जुड़े हुए थे। जब वे महात्मा गांधी का नाम लेकर काम करते थे या अपने आंदोलन को कांग्रेस के आंदोलन से जोड़कर देखते थे तो वास्तव में एक ऐसे आंदोलन का अंग बन जाते थे जो उनके इलाक़े तक ही सीमित नहीं था।

चित्र 5 – चौरी-चौरा, 1922
गोरखपुर स्थित चौरी-चौरा में बाज़ार से गुज़र रहा एक शांतिपूर्ण जुलूस पुलिस के साथ हिंसक टकराव में बदल गया। इस घटना के बारे में सुनते ही महात्मा गांधी ने असहयोग आंदोलन रोकने का आह्वान किया।

3 सविनय अवज्ञा की ओर

फ़रवरी 1922 में महात्मा गांधी ने असहयोग आंदोलन वापस लेने का फ़ैसला कर लिया। उनको लगता था कि आंदोलन हिंसक होता जा रहा है और सत्याग्रहियों को व्यापक प्रशिक्षण की ज़रूरत है। कांग्रेस के कुछ नेता इस तरह के जनसंघर्षों से थक चुके थे। वे 1919 के गवर्नमेंट ऑफ़ इंडिया एक्ट के तहत गठित की गई प्रांतीय परिषदों के चुनाव में हिस्सा लेना चाहते थे। उनको लगता था कि परिषदों में रहते हुए ब्रिटिश नीतियों का विरोध करना, सुधारों की वकालत करना और यह दिखाना भी महत्त्वपूर्ण है कि ये परिषदें लोकतांत्रिक संस्था नहीं हैं। सी.आर. दास और मोतीलाल नेहरू ने परिषद् राजनीति में वापस लौटने के लिए कांग्रेस के भीतर ही स्वराज पार्टी का गठन कर डाला। जवाहरलाल नेहरू और सुभाषचंद्र बोस जैसे युवा नेता ज़्यादा उग्र जनांदोलन और पूर्ण स्वतंत्रता के लिए दबाव बनाए हुए थे।

आंतरिक बहस व असहमति के इस माहौल में दो ऐसे तत्व थे जिन्होंने बीस के दशक के आखिरी सालों में भारतीय राजनीति की रूपरेखा एक बार फिर बदल दी। पहला कारक था विश्वव्यापी आर्थिक मंदी का असर। 1926 से कृषि उत्पादों की क़ीमतें गिरने लगी थीं और 1930 के बाद तो पूरी तरह धराशायी हो गईं। कृषि उत्पादों की माँग गिरी और निर्यात कम होने लगा तो किसानों को अपनी उपज बेचना और लगान चुकाना भी भारी पड़ने लगा। 1930 तक ग्रामीण इलाक़े भारी उथल-पुथल से गुजरने लगे थे।

साइमन कमीशन के खिलाफ़ शांतिपूर्ण प्रदर्शन के दौरान ब्रिटिश पुलिस ने लाला लाजपत राय पर हमला किया। प्रदर्शन के दौरान मिले गहरे ज़ख्मों के कारण उन्होंने दम तोड़ दिया।

इसी पृष्ठभूमि में ब्रिटेन की नयी टोरी सरकार ने सर जॉन साइमन के नेतृत्व में एक वैधानिक आयोग का गठन कर दिया। राष्ट्रवादी आंदोलन के जवाब में गठित किए गए इस आयोग को भारत में संवैधानिक व्यवस्था की कार्यशैली का अध्ययन करना था और उसके बारे में सुझाव देने थे। इस आयोग में एक भी भारतीय सदस्य नहीं था सारे अंग्रेज़ थे।

चित्र 6 – इलाहाबाद में कांग्रेस के नेताओं की बैठक, 1931
महात्मा गांधी के अलावा इस चित्र में आप सरदार वल्लभ भाई पटेल (सबसे बाएँ), जवाहरलाल नेहरू (सबसे दाएँ) और सुभाषचंद्र बोस (बाएँ से पाँचवें) को भी देख सकते हैं।

1928 में जब साइमन कमीशन भारत पहुँचा तो उसका स्वागत 'साइमन कमीशन वापस जाओ' (साइमन कमीशन गो बैक) के नारों से किया गया। कांग्रेस और मुस्लिम लीग, सभी पार्टियों ने प्रदर्शनों में हिस्सा लिया। इस विरोध को शांत करने के लिए वायसराय लॉर्ड इरविन ने अक्तूबर 1929 में भारत के लिए 'डोमीनियन स्टेटस' का गोलमोल सा ऐलान कर दिया। उन्होंने इस बारे में कोई समय सीमा भी नहीं बताई। उन्होंने सिर्फ़ इतना कहा कि भावी संविधान के बारे में चर्चा करने के लिए गोलमेज़ सम्मेलन आयोजित किया जाएगा। इस प्रस्ताव से कांग्रेस के नेता संतुष्ट नहीं थे। जवाहरलाल नेहरू और सुभाषचंद्र बोस के नेतृत्व में कांग्रेस का तेज़-तर्रार खेमा आक्रामक तेवर अपनाने लगा था। उदारवादी और

© NCERT not to be republished

मध्यमार्गी नेता ब्रिटिश डोमीनियन के भीतर ही संवैधानिक व्यवस्था के पक्ष में थे। लेकिन इस खेमे का प्रभाव घटता जा रहा था। दिसंबर 1929 में जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में कांग्रेस के लाहौर अधिवेशन में 'पूर्ण स्वराज' की माँग को औपचारिक रूप से मान लिया गया। तय किया गया कि 26 जनवरी 1930 को स्वतंत्रता दिवस के रूप में मनाया जाएगा और उस दिन लोग पूर्ण स्वराज के लिए संघर्ष की शपथ लेंगे। इस उत्सव की ओर बहुत कम ही लोगों ने ध्यान दिया। अब स्वतंत्रता के इस अमूर्त विचार को रोज़मर्रा ज़िन्दगी के ठोस मुद्दों से जोड़ने के लिए महात्मा गांधी को कोई और रास्ता ढूँढ़ना था।

3.1 नमक यात्रा और सविनय अवज्ञा आंदोलन

देश को एकजुट करने के लिए महात्मा गांधी को नमक एक शक्तिशाली प्रतीक दिखाई दिया। 31 जनवरी 1930 को उन्होंने वायसराय इरविन को एक खत लिखा। इस खत में उन्होंने 11 माँगों का उल्लेख किया था। इनमें से कुछ सामान्य माँगें थीं जबकि कुछ माँगें उद्योगपतियों से लेकर किसानों तक विभिन्न तबक़ों से जुड़ी थीं। गांधीजी इन माँगों के ज़रिए समाज के सभी वर्गों को अपने साथ जोड़ना चाहते थे ताकि सभी उनके अभियान में शामिल हो सकें। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण माँग नमक कर को खत्म करने के बारे में थी। नमक का अमीर-ग़रीब, सभी इस्तेमाल करते थे। यह भोजन का एक अभिन्न हिस्सा था। इसीलिए नमक पर कर और उसके उत्पादन पर सरकारी इज़ारेदारी को महात्मा गांधी ने ब्रिटिश शासन का सबसे दमनकारी पहलू बताया था।

महात्मा गांधी का यह पत्र एक अल्टीमेटम (चेतावनी) की तरह था। उन्होंने लिखा था कि अगर 11 मार्च तक उनकी माँगें नहीं मानी गई तो कांग्रेस सविनय अवज्ञा आंदोलन छेड़ देगी। इरविन झुकने को तैयार नहीं थे। फलस्वरूप, महात्मा गांधी ने अपने 78 विश्वस्त वॉलंटियरों के साथ नमक यात्रा शुरू कर दी। यह यात्रा साबरमती में गांधीजी के आश्रम से 240 किलोमीटर दूर दांडी नामक गुजराती तटीय क़स्बे में जाकर खत्म होनी थी। गांधीजी की टोली ने 24 दिन तक हर रोज़ लगभग 10 मील का सफ़र तय किया। गांधीजी जहाँ भी रुकते हज़ारों लोग उन्हें सुनने आते। इन सभाओं में गांधीजी ने स्वराज का अर्थ स्पष्ट किया और आह्वान किया कि लोग अंग्रेजों की शांतिपूर्वक अवज्ञा करें यानी अंग्रेज़ों का कहा न मानें। 6 अप्रैल को वह दांडी पहुँचे और उन्होंने समुद्र का पानी उबालकर नमक बनाना शुरू कर दिया। यह क़ानून का उल्लंघन था।

यहीं से सविनय अवज्ञा आंदोलन शुरू होता है। यह आंदोलन असहयोग आंदोलन के मुक़ाबले किस तरह अलग था? इस बार लोगों को न केवल अंग्रेज़ों का सहयोग न करने के लिए बल्कि औपनिवेशिक क़ानूनों का उल्लंघन करने के लिए आह्वान किया जाने लगा। देश के विभिन्न भागों में

स्रोत-ग

स्वतंत्रता दिवस की शपथ, 26 जनवरी 1930

'हमारा विश्वास है कि किसी भी समाज की तरह भारतीय जनता का भी यह एक अहरणीय (inalienable) अधिकार है कि उन्हें आज़ादी मिले, अपनी मेहनत का फल मिले, और जीवन की सभी आवश्यकताएँ पूरी हों जिससे उन्हें आगे बढ़ने के परिपूर्ण अवसर मिलें। हमारा यह भी विश्वास है कि यदि कोई भी सरकार अपनी जनता को इन अधिकारों से वंचित रखती है और दबाती है तो जनता को भी सरकार को बदलने या उसे समूल समाप्त करने का अधिकार है। भारत में ब्रितानी सरकार ने न केवल भारतीय जनता को स्वतंत्रता से वंचित किया है बल्कि उसने जनता का शोषण किया है और देश को आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक स्तर पर नष्ट कर दिया है। इसलिए हमारा विश्वास है कि भारत को अनिवार्य रूप से ब्रिटेन के साथ अपने सभी संबंधों को समाप्त करके पूर्ण स्वराज प्राप्त करना चाहिए।'

स्रोत

© NCERT not to be republished

चित्र 7 – दांडी मार्च।
नमक यात्रा के दौरान महात्मा गांधी के साथ उनके 78 सहयोगी भी गए थे। रास्ते में हज़ारों लोग इस यात्रा में जुड़ते गए।

हज़ारों लोगों ने नमक क़ानून तोड़ा, और सरकारी नमक कारखानों के सामने प्रदर्शन किए। आंदोलन फैला तो विदेशी कपड़ों का बहिष्कार किया जाने लगा। शराब की दुकानों की पिकेटिंग होने लगी। किसानों ने लगान और चौकीदारी कर चुकाने से इनकार कर दिया। गाँवों में तैनात कर्मचारी इस्तीफ़े देने लगे। बहुत सारे स्थानों पर जंगलों में रहने वाले वन क़ानूनों का उल्लंघन करने लगे। वे लकड़ी बीनने और मवेशियों को चराने के लिए आरक्षित वनों में घुसने लगे।

इन घटनाओं से चिंतित औपनिवेशिक सरकार कांग्रेसी नेताओं को गिरफ़्तार करने लगी। बहुत सारे स्थानों पर हिंसक टकराव हुए। अप्रैल 1930 में जब महात्मा गांधी के समर्पित साथी अब्दुल गफ्फ़ार ख़ान को गिरफ़्तार किया गया तो गुस्साई भीड़ सशस्त्र बख़्तरबंद गाड़ियों और पुलिस की गोलियों का सामना करते हुए सड़कों पर उतर आई। बहुत सारे लोग मारे गए। महीने भर बाद जब महात्मा गांधी को भी गिरफ़्तार कर लिया गया तो शोलापुर के औद्योगिक मज़दूरों ने अंग्रेज़ी शासन का प्रतीक पुलिस चौकियों, नगरपालिका भवनों, अदालतों और रेलवे स्टेशनों पर हमले शुरू कर दिए। भयभीत सरकार ने निर्मम दमन का रास्ता अपनाया। शांतिपूर्ण सत्याग्रहियों पर हमले किए गए, औरतों व बच्चों को मारा-पीटा गया और लगभग एक लाख लोग गिरफ़्तार किए गए।

चित्र 8 – सत्याग्रहियों पर हमला करती पुलिस, 1930

महात्मा गांधी ने एक बार फिर आंदोलन वापस ले लिया। 5 मार्च 1931 को उन्होंने इरविन के साथ एक समझौते पर दस्तखत कर दिए। इस गांधी-इरविन समझौते के ज़रिए गांधीजी ने लंदन में होने वाले दूसरे गोलमेज़ सम्मेलन में हिस्सा लेने पर अपनी सहमति व्यक्त कर दी (पहले

2019-20

© NCERT not to be republished

गोलमेज़ सम्मेलन का कांग्रेस बहिष्कार कर चुकी थी)। इसके बदले सरकार राजनीतिक क़ैदियों को रिहा करने पर राज़ी हो गई। दिसंबर 1931 में सम्मेलन के लिए गांधीजी लंदन गए। यह वार्ता बीच में ही टूट गई और उन्हें निराश वापस लौटना पड़ा। यहाँ आकर उन्होंने पाया कि सरकार ने नए सिरे से दमन शुरू कर दिया है। गफ़्फ़ार ख़ान और जवाहरलाल नेहरू, दोनों जेल में थे। कांग्रेस को ग़ैरक़ानूनी घोषित कर दिया गया था। सभाओं, प्रदर्शनों और बहिष्कार जैसी गतिविधियों को रोकने के लिए सख़्त क़दम उठाए जा रहे थे। भारी आशंकाओं के बीच महात्मा गांधी ने सविनय अवज्ञा आंदोलन दोबारा शुरू कर दिया। साल भर तक आंदोलन चला लेकिन 1934 तक आते-आते उसकी गति मंद पड़ने लगी थी।

3.2 लोगों ने आंदोलन को कैसे लिया

आइए देखें कि सिविल नाफ़रमानी या सविनय अवज्ञा आंदोलन में शामिल विभिन्न सामाजिक समूह कौन से थे? उन्होंने आंदोलन में हिस्सा क्यों लिया? उनके आदर्श क्या थे? उनके लिए स्वराज के क्या मायने थे?

गाँवों में संपन्न किसान समुदाय-जैसे गुजरात के पटीदार और उत्तर प्रदेश के जाट-आंदोलन में सक्रिय थे। व्यावसायिक फसलों की खेती करने के कारण व्यापार में मंदी और गिरती क़ीमतों से वे बहुत परेशान थे। जब उनकी नक़द आय खत्म होने लगी तो उनके लिए सरकारी लगान चुकाना नामुमकिन हो गया। सरकार लगान कम करने को तैयार नहीं थी। चारों तरफ़ असंतोष था। संपन्न किसानों ने सविनय अवज्ञा आंदोलन का बढ़-चढ़ कर समर्थन किया। उन्होंने अपने समुदायों को एकजुट किया और कई बार अनिच्छुक सदस्यों को बहिष्कार के लिए मजबूर किया। उनके लिए स्वराज की लड़ाई भारी लगान के ख़िलाफ़ लड़ाई थी। लेकिन जब 1931 में लगानों के घटे बिना आंदोलन वापस ले लिया गया तो उन्हें बड़ी निराशा हुई। फलस्वरूप, जब 1932 में आंदोलन दुबारा शुरू हुआ तो उनमें से बहुतों ने उसमें हिस्सा लेने से इनकार कर दिया।

ग़रीब किसान केवल लगान में कमी नहीं चाहते थे। उनमें से बहुत सारे किसान जमींदारों से पट्टे पर जमीन लेकर खेती कर रहे थे। महामंदी लंबी खिंची और नक़द आमदनी गिरने लगी तो छोटे पट्टेदारों के लिए ज़मीन का किराया चुकाना भी मुश्किल हो गया। वे चाहते थे कि उन्हें ज़मींदारों को जो भाड़ा चुकाना था उसे माफ़ कर दिया जाए। इसके लिए उन्होंने कई रेडिकल आंदोलनों में हिस्सा लिया जिनका नेतृत्व अकसर समाजवादियों और कम्युनिस्टों के हाथों में होता था। अमीर किसानों और ज़मींदारों की नाराज़गी के भय से कांग्रेस 'भाड़ा विरोधी' आंदोलनों को समर्थन देने में प्राय: हिचकिचाती थी। इसी कारण ग़रीब किसानों और कांग्रेस के बीच संबंध अनिश्चित बने रहे।

बॉक्स 1

'क्रांति की इस पूजा-वेदी पर हम अपना यौवन नैवेद्य के रूप में लाए हैं'

बहुत सारे राष्ट्रवादियों को लगता था कि अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ संघर्ष अहिंसा के ज़रिए पूरा नहीं हो सकता। 1928 में दिल्ली स्थित फ़िरोज़शाह कोटला मैदान में हुई बैठक में हिंदुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन आर्मी (एच.एस.आर.ए.) की स्थापना की गई। इसके नेताओं में भगत सिंह, जतिन दास और अजॉय घोष शामिल थे। देश के विभिन्न भागों में कार्रवाइयाँ करते हुए एच. एस.आर.ए. ने ब्रिटिश सत्ता के कई प्रतीकों को निशाना बनाया। 1929 में भगत सिंह और बटुकेश्वर दत्त ने लेजिस्लेटिव असेंबली में बम फेंका। उसी साल उस ट्रेन को उड़ाने का प्रयास किया गया जिसमें लॉर्ड इरविन यात्रा कर रहे थे। जिस समय भगत सिंह पर मुक़दमा चला और उन्हें फाँसी दी गई उस समय उनकी उम्र केवल 23 साल थी। अपने मुक़दमे के दौरान भगत सिंह ने कहा था कि वे 'बम और पिस्तौल की उपासना नहीं करते' बल्कि समाज में क्रांति चाहते हैं –

'क्रांति मानवजाति का जन्मजात अधिकार है जिसका अपहरण नहीं किया जा सकता। स्वतंत्रता प्रत्येक मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार है। श्रमिक वर्ग ही समाज का वास्तविक पोषक है, जनता की सर्वोपरि सत्ता की स्थापना श्रमिक वर्ग का अंतिम लक्ष्य है। इन आदर्शों के लिए और इस विश्वास के लिए हमें जो भी दंड दिया जाएगा, हम उसका सहर्ष स्वागत करेंगे। क्रांति की इस पूजा-वेदी पर हम अपना यौवन नैवेद्य के रूप में लाए हैं, क्योंकि ऐसे महान आदर्श के लिए बड़े-से-बड़ा त्याग भी कम है। हम संतुष्ट हैं और क्रांति के आगमन की उत्सुकतापूर्वक प्रतीक्षा कर रहे हैं।

'इंकलाब ज़िंदाबाद!'

भगतसिंह, बटुकेश्वरदत्त, 'बमकांड पर सेशन कोर्ट में बयान' (6 जून 1929 दिल्ली), *भगतसिंह और उनके साथियों के दस्तावेज़*, जगमोहन सिंह, चमनलाल (सं) से उद्धृत, राजकमल पेपरबैक्स, दिल्ली, 2005

© NCERT not to be republished

व्यवसायी वर्ग की क्या स्थिति थी? उन्होंने सविनय अवज्ञा आंदोलन के बारे में क्या रुख अपनाया? पहले विश्वयुद्ध के दौरान भारतीय व्यापारियों और उद्योगपतियों ने भारी मुनाफ़ा कमाया था और वे ताक़तवर हो चुके थे (देखें अध्याय 5)। अपने कारोबार को फैलाने के लिए उन्होंने ऐसी औपनिवेशिक नीतियों का विरोध किया जिनके कारण उनकी व्यावसायिक गतिविधियों में रुकावट आती थी। वे विदेशी वस्तुओं के आयात से सुरक्षा चाहते थे और रुपया-स्टर्लिंग विदेशी विनिमय अनुपात में बदलाव चाहते थे जिससे आयात में कमी आ जाए। व्यावसायिक हितों को संगठित करने के लिए उन्होंने 1920 में भारतीय औद्योगिक एवं व्यावसायिक कांग्रेस (इंडियन इंडस्ट्रियल एंड कमर्शियल कांग्रेस) और 1927 में भारतीय वाणिज्य एवं उद्योग परिसंघ (फेडरेशन ऑफ़ इंडियन चैंबर ऑफ़ कॉमर्स एंड इंडस्ट्री–फिक्की) का गठन किया। पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास और जी.डी. बिड़ला जैसे जाने-माने उद्योगपतियों के नेतृत्व में उद्योगपतियों ने भारतीय अर्थव्यवस्था पर औपनिवेशिक नियंत्रण का विरोध किया और पहले सिविल नाफ़रमानी आंदोलन का समर्थन किया। उन्होंने आंदोलन को आर्थिक सहायता दी और आयातित वस्तुओं को खरीदने या बेचने से इनकार कर दिया। ज़्यादातर व्यवसायी स्वराज को एक ऐसे युग के रूप में देखते थे जहाँ कारोबार पर औपनिवेशिक पाबंदियाँ नहीं होंगी और व्यापार व उद्योग निर्बाध ढंग से फल-फूल सकेंगे। गोलमेज़ सम्मेलन की विफलता के बाद व्यावसायिक संगठनों का उत्साह भी मंद पड़ गया था। उन्हें उग्र गतिविधियों का भय था। वे लंबी अशांति की आशंका और कांग्रेस के युवा सदस्यों में समाजवाद के बढ़ते प्रभाव से डरे हुए थे।

औद्योगिक श्रमिक वर्ग ने सविनय अवज्ञा आंदोलन में नागपुर के अलावा और कहीं भी बहुत बड़ी संख्या में हिस्सा नहीं लिया। जैसे-जैसे उद्योगपति कांग्रेस के नज़दीक आ रहे थे, मज़दूर कांग्रेस से छिटकने लगे थे। फिर भी, कुछ मज़दूरों ने सविनय अवज्ञा आंदोलन में हिस्सा लिया। उन्होंने विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार जैसे कुछ गांधीवादी विचारों को कम वेतन व खराब कार्यस्थितियों के ख़िलाफ़ अपनी लड़ाई से जोड़ लिया था। 1930 में रेलवे कामगारों की और 1932 में गोदी कामगारों की हड़ताल हुई। 1930 में छोटा नागपुर की टिन खानों के हज़ारों मज़दूरों ने गांधी टोपी पहनकर रैलियों और बहिष्कार अभियानों में हिस्सा लिया। फिर भी, कांग्रेस अपने कार्यक्रम में मज़दूरों की माँगों को समाहित करने में हिचकिचा रही थी। कांग्रेस को लगता था कि इससे उद्योगपति आंदोलन से दूर चले जाएँगे और साम्राज्यवाद विरोधी ताक़तों में फूट पड़ेगी।

सिविल नाफ़रमानी आंदोलन में औरतों ने बड़े पैमाने पर हिस्सा लिया। गांधीजी के नमक सत्याग्रह के दौरान हज़ारों औरतें उनकी बात सुनने के लिए घर से बाहर आ जाती थीं। उन्होंने जुलूसों में हिस्सा लिया, नमक बनाया,

कुछ महत्त्वपूर्ण तिथियाँ

1918-19

बाबा रामचंद्र उत्तर प्रदेश के किसानों को संगठित करते हैं।

अप्रैल 1919

रॉलट एक्ट के ख़िलाफ़ गांधीवादी हड़ताल; जलियाँवाला बाग़ हत्याकांड।

जनवरी 1921

असहयोग और ख़िलाफ़त आंदोलन शुरू।

फरवरी 1922

चौरी चौरा; गांधीजी असहयोग आंदोलन वापस ले लेते हैं।

मई 1924

अल्लूरी सीताराम राजू की गिरफ़्तारी; दो वर्ष से चला आ रहा हथियारबंद आदिवासी संघर्ष समाप्त।

दिसंबर 1929

लाहौर अधिवेशन; कांग्रेस 'पूर्ण स्वराज' की माँग को स्वीकार कर लेती है।

1930

अंबेडकर दमित वर्ग एसोसिएशन की स्थापना करते हैं।

मार्च 1930

गांधीजी दांडी में नमक क़ानून का उल्लंघन करके सविनय अवज्ञा आंदोलन शुरू करते हैं।

मार्च 1931

गांधीजी सविनय अवज्ञा आंदोलन वापस ले लेते हैं।

दिसंबर 1931

दूसरा गोलमेज़ सम्मेलन।

1932

सविनय अवज्ञा आंदोलन पुनः प्रारंभ।

© NCERT not to be republished

चित्र 9 – राष्ट्रवादी जुलूसों में औरतें भी शामिल थीं।
राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान बहुत सारी औरतें अपनी ज़िंदगी में पहली बार अपने घर से निकलकर सार्वजनिक क्षेत्र में आई थीं। इस चित्र में आप बच्चों को गोद में लिए बहुत सारी ज़्यादा उम्र वाली औरतों और माँओं को भी जुलूस में देख सकते हैं।

विदेशी कपड़ों व शराब की दुकानों की पिकेटिंग की। बहुत सारी महिलाएँ जेल भी गईं। शहरी इलाक़ों में ज़्यादातर ऊँची जातियों की महिलाएँ सक्रिय थीं जबकि ग्रामीण इलाक़ों में संपन्न किसान परिवारों की महिलाएँ आंदोलन में हिस्सा ले रही थीं। गांधीजी के आह्वान के बाद औरतों को राष्ट्र की सेवा करना अपना पवित्र दायित्व दिखाई देने लगा था। लेकिन सार्वजनिक भूमिका में इस इज़ाफ़े का मतलब यह नहीं था कि औरतों की स्थिति में कोई भारी बदलाव आने वाला था। गांधीजी का मानना था कि घर चलाना, चूल्हा–चौका सँभालना, अच्छी माँ व अच्छी पत्नी की भूमिकाओं का निर्वाह करना ही औरत का असली कर्त्तव्य है। इसीलिए लंबे समय तक कांग्रेस संगठन में किसी भी महत्त्वपूर्ण पद पर औरतों को जगह देने से हिचकिचाती रही। कांग्रेस को उनकी प्रतीकात्मक उपस्थिति में ही दिलचस्पी थी।

चर्चा करें

सविनय अवज्ञा आंदोलन में विभिन्न वर्गों और समूहों ने क्यों हिस्सा लिया?

3.3 सविनय अवज्ञा की सीमाएँ

सभी सामाजिक समूह स्वराज की अमूर्त अवधारणा से प्रभावित नहीं थे। ऐसा ही एक समूह राष्ट्र के 'अछूतों' का था। वे 1930 के बाद खुद को दलित या उत्पीड़ित कहने लगे थे। कांग्रेस ने लंबे समय तक दलितों पर ध्यान नहीं दिया क्योंकि कांग्रेस रूढ़िवादी सवर्ण हिंदू सनातनपंथियों से डरी हुई थी। लेकिन महात्मा गांधी ने ऐलान किया कि अस्पृश्यता (छुआछूत) को खत्म किए बिना सौ साल तक भी स्वराज की स्थापना नहीं की जा सकती। उन्होंने

'अछूतों' को हरिजन यानी ईश्वर की संतान बताया। उन्हें मंदिरों, सार्वजनिक तालाबों, सड़कों और कुओं पर समान अधिकार दिलाने के लिए सत्याग्रह किया। मैला ढोनेवालों के काम को प्रतिष्ठा दिलाने के लिए वे खुद शौचालय साफ़ करने लगे। उन्होंने ऊँची जातियों का आह्वान किया कि वे अपना हृदय परिवर्तन करें और 'अस्पृश्यता के पाप' को छोड़ें। लेकिन बहुत सारे दलित नेता अपने समुदाय की समस्याओं का अलग राजनीतिक हल ढूँढ़ना चाहते थे। वे खुद को संगठित करने लगे। उन्होंने शिक्षा संस्थानों में आरक्षण के लिए आवाज़ उठाई और अलग निर्वाचन क्षेत्रों की बात कही ताकि वहाँ से विधायी परिषदों के लिए केवल दलितों को ही चुनकर भेजा जा सके। उनका मानना था कि उनकी सामाजिक अपंगता केवल राजनीतिक सशक्तीकरण से ही दूर हो सकती है। इसलिए सविनय अवज्ञा आंदोलन में दलितों की हिस्सेदारी काफ़ी समित थी। महाराष्ट्र और नागपुर क्षेत्र में यह बात खासतौर से दिखाई देती थी जहाँ उनके संगठन काफ़ी मज़बूत थे।

डॉ. अंबेडकर ने 1930 में दलितों को दमित वर्ग एसोसिएशन (Depressed Classes Association) में संगठित किया। दलितों के लिए अलग निर्वाचन क्षेत्रों के सवाल पर दूसरे गोलमेज़ सम्मेलन में महात्मा गांधी के साथ उनका काफ़ी विवाद हुआ। जब ब्रिटिश सरकार ने अंबेडकर की माँग मान ली तो गांधीजी आमरण अनशन पर बैठ गए। उनका मत था कि दलितों के लिए अलग निर्वाचन क्षेत्रों की व्यवस्था से समाज में उनके एकीकरण की प्रक्रिया धीमी पड़ जाएगी। आखिरकार अंबेडकर ने गांधीजी की राय मान ली और सितंबर 1932 में पूना पैक्ट पर हस्ताक्षर कर दिए। इससे दमित वर्गों (जिन्हें बाद में अनुसूचित जाति के नाम से जाना गया) को प्रांतीय एवं केंद्रीय विधायी परिषदों में आरक्षित सीटें मिल गईं हालाँकि उनके लिए मतदान सामान्य निर्वाचन क्षेत्रों में ही होता था। फिर भी, दलित आंदोलन कांग्रेस के नेतृत्व में चल रहे राष्ट्रीय आंदोलन को शंका की दृष्टि से ही देखता रहा।

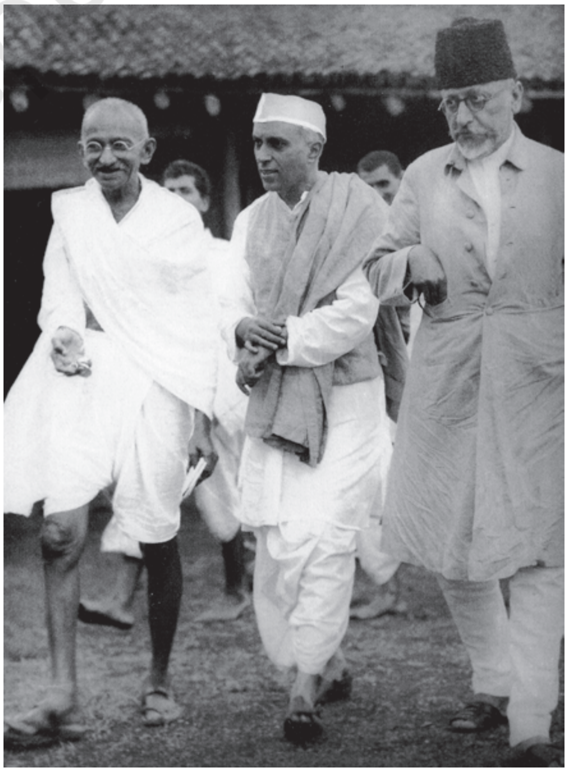

चित्र 10 – महात्मा गांधी, जवाहरलाल नेहरू और मौलाना आज़ाद, सेवाग्राम आश्रम, वर्धा, 1935

भारत के कुछ मुस्लिम राजनीतिक संगठनों ने भी सविनय अवज्ञा आंदोलन के प्रति कोई खास उत्साह नहीं दिखाया। असहयोग-ख़िलाफ़त आंदोलन के शांत पड़ जाने के बाद मुसलमानों का एक बहुत बड़ा तबक़ा कांग्रेस से कटा हुआ महसूस करने लगा था। 1920 के दशक के मध्य से कांग्रेस हिंदू महासभा जैसे हिंदू धार्मिक राष्ट्रवादी संगठनों के काफ़ी करीब दिखने लगी थी। जैसे-जैसे हिंदू-मुसलमानों के बीच संबंध खराब होते गए, दोनों समुदाय उग्र धार्मिक जुलूस निकालने लगे। इससे कई शहरों में हिंदू-मुस्लिम सांप्रदायिक टकराव व दंगे हुए। हर दंगे के साथ दोनों समुदायों के बीच फ़ासला बढ़ता गया।

कांग्रेस और मुस्लिम लीग ने एक बार फिर गठबंधन का प्रयास किया। 1927 में ऐसा लगा भी कि अब एकता स्थापित हो ही जाएगी। सबसे महत्त्वपूर्ण मतभेद भावी विधान सभाओं में प्रतिनिधित्व के सवाल पर थे। मुस्लिम लीग

के नेताओं में से एक, मोहम्मद अली जिन्ना का कहना था कि अगर मुसलमानों को केंद्रीय सभा में आरक्षित सीटें दी जाएँ और मुस्लिम बहुल प्रांतों (बंगाल और पंजाब) में मुसलमानों को आबादी के अनुपात में प्रतिनिधित्व दिया जाए तो वे मुसलमानों के लिए पृथक निर्वाचिका की माँग छोड़ने के लिए तैयार हैं। प्रतिनिधित्व के सवाल पर यह बहस-मुबाहिसा चल ही रहा था कि 1928 में आयोजित किए गए सर्वदलीय सम्मेलन में हिंदू महासभा के एम.आर. जयकर ने इस समझौते के लिए किए जा रहे प्रयासों की खुलेआम निंदा शुरू कर दी जिससे इस मुद्दे के समाधान की सारी संभावनाएँ समाप्त हो गईं।

जब सविनय अवज्ञा आंदोलन शुरू हुआ उस समय समुदायों के बीच संदेह और अविश्वास का माहौल बना हुआ था। कांग्रेस से कटे हुए मुसलमानों का बड़ा तबक़ा किसी संयुक्त संघर्ष के लिए तैयार नहीं था। बहुत सारे मुस्लिम नेता और बुद्धिजीवी भारत में अल्पसंख्यकों के रूप में मुसलमानों की हैसियत को लेकर चिंता जता रहे थे। उनको भय था कि हिंदू बहुसंख्या के वर्चस्व की स्थिति में अल्पसंख्यकों की संस्कृति और पहचान खो जाएगी।

स्रोत-घ

1930 में मुस्लिम लीग के अध्यक्ष सर मोहम्मद इक़बाल ने मुसलमानों के लिए अल्पसंख्यक राजनीतिक हितों की रक्षा के उद्देश्य से पृथक निर्वाचिका की ज़रूरत पर एक बार फिर ज़ोर दिया। माना जाता है कि बाद के सालों में पाकिस्तान की माँग के लिए जो आवाज़ उठी उसका बौद्धिक औचित्य उनके इसी बयान से उपजा था। उन्होंने जो कहा वह इस प्रकार था–

'मुझे यह कहने में ज़रा सी भी हिचकिचाहट नहीं है कि अगर स्थायी सांप्रदायिक बंदोबस्त के तौर पर भारतीय मुसलमान को उसके अपने भारतीय होमलैंड में अपनी संस्कृति और परंपरा के अनुसार पूर्ण एवं स्वतंत्र विकास का अधिकार दिया जाए तो वह भारत की स्वतंत्रता के लिए अपना सबकुछ न्यौछावर करने को तैयार हो जाएगा। प्रत्येक समूह को अपने तरीक़े से स्वतंत्र विकास का अधिकार है। यह सिद्धांत किसी संकुचित सांप्रदायिकता की भावना से नहीं उपजा है।... जो समुदाय अन्य समुदायों के प्रति दुर्भावना रखता है वह नीच और अधम है। मैं अन्य समुदायों के रीति-रिवाजों, धर्मों और सामाजिक संस्थानों का अगाध सम्मान करता हूँ। कुरान की हिदायतों के अनुसार यह मेरा दायित्व है कि अगर ज़रूरत हो तो मैं उनके उपासना स्थलों की भी रक्षा करूँगा। लेकिन मैं उस सांप्रदायिक समूह को प्रेम करता हूँ जो मेरे लिए जीवन और आचरण का स्रोत है, जिसने मुझे अपना धर्म, अपना साहित्य, अपने विचार, अपनी संस्कृति देकर मुझे ऐसा बनाया है और इस प्रकार मेरी मौजूदा चेतना में अपने पूरे अतीत को एक सजीव कार्यात्मक तत्व के रूप में समो दिया है...।

'ऐसे में अपने उच्चतर आयाम में सांप्रदायिकता भारत जैसे देश के भीतर एक लयात्मक समुच्चय के निर्माण के लिए अपरिहार्य है। यूरोपीय देशों की तरह भारतीय समाज की इकाइयाँ भूभागों में बँटी हुई नहीं हैं। भारत के सामुदायिक समूहों को मान्यता दिए बिना यहाँ यूरोपीय लोकतंत्र के सिद्धांत को लागू नहीं किया जा सकता। भारत के भीतर एक मुस्लिम भारत की स्थापना के लिए मुसलमानों की ओर से उठ रही माँग बिलकुल सही है...।

'हिंदू सोचता है कि पृथक निर्वाचिका का प्रस्ताव सच्चे राष्ट्रवाद की भावना के विपरीत है क्योंकि वह मानता है कि "राष्ट्र" शब्द का मतलब एक ऐसे सार्वभौमिक सम्मिश्रण से है जिसमें किसी भी सामुदायिक इकाई को अपनी निजी विशिष्टता बनाए रखने का अधिकार नहीं हो सकता। लेकिन हालात ऐसे नहीं हैं। भारत नस्ली और धार्मिक विशिष्टताओं वाला देश है। इसी में आप यह तथ्य भी जोड़ दीजिए कि मुसलमान आर्थिक रूप से सामान्यत: कमज़ोर हैं, उन पर भारी क़र्ज़े हैं, खासतौर से पंजाब में, और कई प्रांतों में उनकी संख्या कम है। इसके बाद आप देखेंगे कि पृथक निर्वाचिका को बनाए रखने की हमारी बेचैनी का अर्थ क्या है।'

स्रोत

चर्चा करें

स्रोत-घ को ध्यान से पढ़ें। क्या आप सांप्रदायिकता के बारे में इक़बाल के विचारों से सहमत हैं? क्या आप सांप्रदायिकता को अलग प्रकार से परिभाषित कर सकते हैं?

© NCERT not to be republished

4 सामूहिक अपनेपन का भाव

चित्र 11 – बालगंगाधर तिलक, बीसवीं सदी के शुरू की तसवीर।
ध्यान से देखें कि तिलक एकता के प्रतीकों से घिरे हुए हैं। चित्र के चारों ओर विभिन्न धर्मों के पवित्र स्थान (मंदिर, चर्च, मस्जिद) चित्रित किए गए हैं।

राष्ट्रवाद की भावना तब पनपती है जब लोग ये महसूस करने लगते हैं कि वे एक ही राष्ट्र के अंग हैं; जब वे एक-दूसरे को एकता के सूत्र में बाँधने वाली कोई साझा बात ढूँढ़ लेते हैं। लेकिन राष्ट्र लोगों के मस्तिष्क में एक यथार्थ का रूप कैसे लेता है? विभिन्न समुदायों, क्षेत्रों या भाषाओं से संबद्ध अलग-अलग समूहों ने सामूहिक अपनेपन का भाव कैसे विकसित किया?

सामूहिक अपनेपन की यह भावना आंशिक रूप से संयुक्त संघर्षों के चलते पैदा हुई थी। इनके अलावा बहुत सारी सांस्कृतिक प्रक्रियाएँ भी थीं जिनके ज़रिए राष्ट्रवाद लोगों की कल्पना और दिलोदिमाग़ पर छा गया था। इतिहास व साहित्य, लोक कथाएँ व गीत, चित्र व प्रतीक, सभी ने राष्ट्रवाद को साकार करने में अपना योगदान दिया था।

जैसा कि आप जानते है, राष्ट्र की पहचान सबसे ज़्यादा किसी तसवीर में अंकित की जाती है (देखें अध्याय 1)। इससे लोगों को एक ऐसी छवि गढ़ने में मदद मिलती है जिसके ज़रिए वे राष्ट्र को पहचान सकते हैं। बीसवीं सदी में राष्ट्रवाद के विकास के साथ भारत की पहचान भी भारत माता की छवि का रूप लेने लगी। यह तसवीर पहली बार बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय ने बनाई थी। 1870 के दशक में उन्होंने मातृभूमि की स्तुति के रूप में 'वन्दे मातरम्' गीत लिखा था। बाद में इसे उन्होंने अपने उपन्यास *आनन्दमठ* में शामिल कर लिया। यह गीत बंगाल में स्वदेशी आन्दोलन में खूब गाया गया। स्वदेशी आंदोलन की प्रेरणा से अबनीन्द्रनाथ टैगोर ने भारत माता की विख्यात छवि को चित्रित किया (देखें चित्र 12)। इस पेंटिंग में भारत माता को एक संन्यासिनी के रूप में दर्शाया गया है। वह शांत, गंभीर, दैवी और अध्यात्मिक गुणों से युक्त दिखाई देती है। आगे चल कर जब इस छवि को बड़े पैमाने पर तसवीरों में उतारा जाने लगा और विभिन्न कलाकार यह तसवीर बनाने लगे तो भारत माता की छवि विविध रूप ग्रहण करती गई (देखें चित्र 14)। इस मातृ छवि के प्रति श्रद्धा को राष्ट्रवाद में आस्था का प्रतीक माना जाने लगा।

राष्ट्रवाद का विचार भारतीय लोक कथाओं को पुनर्जीवित करने के आंदोलन से भी मज़बूत हुआ। उन्नीसवीं सदी के आखिर में राष्ट्रवादियों ने भाटों व चारणों द्वारा गाई–सुनाई जाने वाली लोक कथाओं को दर्ज करना शुरू कर दिया। वे लोक गीतों व जनश्रुतियों को इकट्ठा करने के लिए गाँव–गाँव घूमने लगे। उनका मानना था कि यही कहानियाँ हमारी उस परंपरागत संस्कृति की सही तसवीर पेश करती हैं जो बाहरी ताक़तों के प्रभाव से भ्रष्ट और दूषित हो चुकी है। अपनी राष्ट्रीय पहचान को ढूंढ़ने और अपने अतीत में गौरव का भाव पैदा करने के लिए इस लोक परंपरा को बचाकर रखना जरूरी था। बगांल में खुद रबीन्द्रनाथ टैगोर भी लोक–गाथा गीत, बाल गीत और मिथकों

चित्र 12 – भारत माता, अबनीन्द्रनाथ टैगोर, 1905
ध्यान से देखें कि यहाँ दर्शाई गई माँ की छवि शिक्षा, भोजन और कपड़े दे रही है। एक हाथ में माला उसके संन्यासी गुण को रेखांकित करती है। अपने पूर्ववर्ती रवि वर्मा की भांति अबनीन्द्रनाथ टैगोर ने भी ऐसी चित्र शैली विकसित करने का प्रयास किया जिसे सच्चे अर्थों में भारतीय माना जा सके।

चित्र 13 – जवाहरलाल नेहरू, एक लोकप्रिय चित्र।
इस चित्र में नेहरू भारत माता और भारत के नक़्शे को हृदय के पास रखे दिखाई दे रहे हैं। बहुत सारे चित्रों में राष्ट्रवादी नेताओं को अपना सिर भारत माता के चरणों में चढ़ाते हुए दर्शाया गया है। माँ के लिए बलिदान का विचार लोगों की कल्पना में बहुत महत्त्वपूर्ण था।

© NCERT not to be republished

को इकट्ठा करने निकल पड़े। उन्होंने लोक परंपराओं को पुनर्जीवित करने वाले आंदोलन का नेतृत्व किया। मद्रास में नटेसा शास्त्री ने द *फ़ोकलोर्स ऑफ़ सदर्न इंडिया* के नाम से तमिल लोक कथाओं का विशाल संकलन चार खंडों में प्रकाशित किया। उनका मानना था कि लोक कथाएँ राष्ट्रीय साहित्य होती हैं; यह 'लोगों के असली विचारों और विशिष्टताओं की सबसे विश्वसनीय अभिव्यक्ति' है।

जैसे-जैसे राष्ट्रीय आंदोलन आगे बढ़ा, राष्ट्रवादी नेता लोगों को एकजुट करने और उनमें राष्ट्रवाद की भावना भरने के लिए इस तरह के चिह्नों और प्रतीकों के बारे में और ज़्यादा जागरूक होते गए। बंगाल में स्वदेशी आंदोलन के दौरान एक तिरंगा झंडा (हरा, पीला, लाल) तैयार किया गया। इसमें ब्रिटिश भारत के आठ प्रांतों का प्रतिनिधित्व करते कमल के आठ फूल और हिंदुओं व मुसलमानों का प्रतिनिधित्व करता एक अर्धचंद्र दर्शाया गया था। 1921 तक गांधीजी ने भी स्वराज का झंडा तैयार कर लिया था। यह भी तिरंगा (सफ़ेद, हरा और लाल) था। इसके मध्य में गांधीवादी प्रतीक चरखे को जगह दी गई थी जो स्वावलंबन का प्रतीक था। जुलूसों में यह झंडा थामे चलना शासन के प्रति अवज्ञा का संकेत था।

इतिहास की पुनर्व्याख्या राष्ट्रवाद की भावना पैदा करने का एक और साधन थी। उन्नीसवीं सदी के अंत तक आते-आते बहुत सारे भारतीय यह महसूस करने लगे थे कि राष्ट्र के प्रति गर्व का भाव जगाने के लिए भारतीय इतिहास को अलग ढंग से पढ़ाया जाना चाहिए। अंग्रेजों की नज़र में भारतीय पिछड़े हुए और आदिम लोग थे जो अपना शासन खुद नहीं सँभाल सकते। इसके जवाब में भारत के लोग अपनी महान उपलब्धियों की खोज में अतीत की ओर देखने लगे। उन्होंने उस गौरवमयी प्राचीन युग के बारे में लिखना शुरू कर दिया जब कला और वास्तुशिल्प, विज्ञान और गणित, धर्म और संस्कृति, क़ानून और दर्शन, हस्तकला और व्यापार फल-फूल रहे थे। उनका कहना था की इस महान युग के बाद पतन का समय आया और भारत को ग़ुलाम बना लिया गया। इस राष्ट्रवादी इतिहास में पाठकों को अतीत में भारत की महानता व उपलब्धियों पर गर्व करने और ब्रिटिश शासन के तहत दुर्दशा से मुक्ति के लिए संघर्ष का मार्ग अपनाने का आह्वान किया जाता था।

लोगों को एकजुट करने की इन कोशिशों की अपनी समस्याएँ थीं। जिस अतीत का गौरवगान किया जा रहा था वह हिंदुओं का अतीत था। जिन

चित्र 14 – भारत माता।
भारत माता की यह छवि अबनीन्द्रनाथ टैगोर द्वारा चित्रित छवि के बिलकुल विपरीत है। यहाँ भारत माता के हाथों में त्रिशूल है और वह हाथी व शेर के बीच खड़ी हैं। ये दोनों ही शक्ति और सत्ता के प्रतीक हैं।

गतिविधि

चित्र 12 और 14 को देखिए। क्या आपको लगता है कि यह तसवीरें सभी जातियों और समुदायों को भाएँगी? अपनी राय को संक्षेप में स्पष्ट कीजिए।

स्रोत-ङ

'पुराने ज़माने में भारत आने वाले विदेशी यात्री आर्य वंश के लोगों के साहस, सच्चाई और विनम्रता पर चकित रह जाते थे; अब वे बस इन गुणों के अभाव की बात करते हैं। उस जमाने में हिंदू विजय के लिए निकलते थे और तातार, चीन व अन्य देशों में अपनी विजय-पताका फहराते थे। अब एक क्षुद्र से द्वीप के चन्द सिपाही भारत भूमि पर क़ब्ज़ा किए हुए हैं।'

तारिणीचरण चट्टोपाध्याय, *भारतबर्षेर इतिहास (भारतवर्ष का इतिहास)*, खंड 1, 1858

स्रोत

2019-20

छवियों का सहारा लिया जा रहा था वे हिंदू प्रतीक थे। इसलिए अन्य समुदायों के लोग अलग–थलग महसूस करने लगे थे।

निष्कर्ष

अंग्रेज़ सरकार के ख़िलाफ़ बढ़ता गुस्सा विभिन्न भारतीय समूहों और वर्गों को स्वतंत्रता के साझा संघर्ष में खींच रहा था। महात्मा गांधी के नेतृत्व में कांग्रेस ने लोगों के असंतोष और परेशानियों को स्वतंत्रता के संगठित आंदोलन में समाहित करने का प्रयास किया। उन्होंने आंदोलन के ज़रिए पूरे देश को एकता के सूत्र में पिरोने का प्रयास किया। लेकिन जैसा कि हमने देखा, इन आंदोलनों में हिस्सा लेने वाले विभिन्न समूह और वर्ग अलग–अलग आकांक्षाओं और अपेक्षाओं के साथ हिस्सा ले रहे थे। उनकी शिकायतें बहुत व्यापक थीं इसलिए औपनिवेशिक शासन से मुक्ति का भी सबके लिए अपना–अपना अर्थ था। कांग्रेस ने इन विभेदों को हल करने और यह सुनिश्चित करने के लिए हमेशा प्रयास किया कि एक समूह की माँगों के कारण कोई दूसरा समूह दूर न चला जाए। यही वजह है कि आंदोलन के भीतर अकसर बिखराव आ जाता था। कांग्रेस की सरगर्मियों और राष्ट्रीय एकता के शिखर को छूने के बाद बिखराव और आंतरिक टकरावों के चरण आ जाते थे।

चित्र 14(अ) – भारत छोड़ो आन्दोलन के दौरान बम्बई में औरतों का एक जुलूस

संक्षेप में, जो राष्ट्र उभर रहा था वह औपनिवेशिक शासन से मुक्ति की चाह रखने वाली बहुत सारी आवाज़ों का पुंज था।

भारत छोड़ो आंदोलन

क्रिप्स मिशन की असफलता एवं द्वितीय विश्व युद्ध के प्रभावों ने भारत में व्यापक असंतोष को जन्म दिया। इसके फलस्वरूप गांधी जी ने एक आंदोलन शुरू किया, जिसमें उन्होंने अंग्रेजों के पूरी तरह से भारत छोड़ने पर ज़ोर दिया। वर्धा में 14 जुलाई 1942 को अपनी कार्यकारिणी में कांग्रेस कार्य समिति ने ऐतिहासिक 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव पारित किया, जिसमें सत्ता का भारतीयों को तत्काल हस्तांतरण एवं भारत छोड़ने की मांग की गई। 8 अगस्त 1942 को बंबई में अखिल भारतीय कांग्रेस समिति ने इस प्रस्ताव का समर्थन किया, जिसमें पूरे देश में व्यापक पैमाने पर एक अंहिसक जन संघर्ष का आह्वान किया गया। इसी अवसर पर गांधी जी ने प्रसिद्ध 'करो या मरो' भाषण दिया था। 'भारत छोड़ो' के इस आह्वान ने देश के अधिकतर हिस्सों में राज्य व्यवस्था को ठप्प कर दिया, लोग स्वत: ही आन्दोलन में कूद पड़े। लोगों ने हड़तालें की और राष्ट्रीय गीतों एवं नारों के साथ प्रदर्शन किए एवं जुलूस निकाले। यह आंदोलन वास्तव में एक जन आन्दोलन था जिसमें छात्र, मजदूर और किसान जैसे हजारों साधारण लोगों ने हिस्सा लिया। इसमें नेताओं की सक्रिय भागीदारी भी देखी गई जिनमें जयप्रकाश नारायण, अरूणा आसफ अली एवं राम मनोहर लोहिया और बहुत सारी महिलाएं जैसे बंगाल से मातांगिनी हाजरा, असम से कनकलता बरूआ और उड़ीसा से रमा देवी थी। अंग्रेजों द्वारा अत्यधिक बल प्रयोग के बावजूद इसे दबाने में एक वर्ष से अधिक समय लग गया।

संक्षेप में लिखें

1. व्याख्या करें –
   (क) उपनिवेशों में राष्ट्रवाद के उदय की प्रक्रिया उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन से जुड़ी हुई क्यों थी।
   (ख) पहले विश्व युद्ध ने भारत में राष्ट्रीय आंदोलन के विकास में किस प्रकार योगदान दिया।
   (ग) भारत के लोग रॉलट एक्ट के विरोध में क्यों थे।
   (घ) गांधीजी ने असहयोग आंदोलन को वापस लेने का फ़ैसला क्यों लिया।
2. सत्याग्रह के विचार का क्या मतलब है?
3. निम्नलिखित पर अख़बार के लिए रिपोर्ट लिखें –
   (क) जलियाँवाला बाग़ हत्याकांड
   (ख) साइमन कमीशन
4. इस अध्याय में दी गई भारत माता की छवि और अध्याय 1 में दी गई जर्मेनिया की छवि की तुलना कीजिए।

संक्षेप में लिखें

चर्चा करें

1. 1921 में असहयोग आंदोलन में शामिल होने वाले सभी सामाजिक समूहों की सूची बनाइए। इसके बाद उनमें से किन्हीं तीन को चुन कर उनकी आशाओं और संघर्षों के बारे में लिखते हुए यह दर्शाइए कि वे आंदोलन में शामिल क्यों हुए।
2. नमक यात्रा की चर्चा करते हुए स्पष्ट करें कि यह उपनिवेशवाद के ख़िलाफ़ प्रतिरोध का एक असरदार प्रतीक था।
3. कल्पना कीजिए की आप सिविल नाफ़रमानी आंदोलन में हिस्सा लेने वाली महिला हैं। बताइए कि इस अनुभव का आपके जीवन में क्या अर्थ होता।
4. राजनीतिक नेता पृथक निर्वाचिका के सवाल पर क्यों बँटे हुए थे।

चर्चा करें

परियोजना कार्य

इंडो-चाइना के उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन का अध्ययन करें। भारत के राष्ट्रीय आंदोलन की तुलना इंडो-चाइना के स्वतंत्रता संघर्ष से करें।

परियोजना कार्य

© NCERT not to be republished

भूमंडलीकृत विश्व का बनना

1067CH03

1 आधुनिक युग से पहले

जब हम 'वैश्वीकरण' की बात करते हैं तो आमतौर पर हम एक ऐसी आर्थिक व्यवस्था की बात करते हैं जो मोटे तौर पर पिछले लगभग पचास सालों में ही हमारे सामने आई है। लेकिन जैसा कि आप इस अध्याय में देखेंगे, भूमंडलीकृत विश्व के बनने की प्रक्रिया – व्यापार का, काम की तलाश में एक जगह से दूसरी जगह जाते लोगों का, पूँजी व बहुत सारी चीजों की वैश्विक आवाजाही का – एक लंबा इतिहास रहा है। आज जब हम अपने जीवन में वैश्विक आपसी संपर्कों के बारे में सोचते हैं तो हमें उन युगों के बारे में भी जानना चाहिए जिनसे गुज़रते हुए हमारी यह दुनिया ऐसी बनी है।

इतिहास के हर दौर में मानव समाज एक-दूसरे के ज़्यादा नज़दीक आते गए हैं। प्राचीन काल से ही यात्री, व्यापारी, पुजारी और तीर्थयात्री ज्ञान, अवसरों और आध्यात्मिक शांति के लिए या उत्पीड़न/यातनापूर्ण जीवन से बचने के लिए दूर-दूर की यात्राओं पर जाते रहे हैं। अपनी यात्राओं में ये लोग तरह-तरह की चीजें, पैसा, मूल्य-मान्यताएँ, हुनर, विचार, आविष्कार और यहाँ तक कि कीटाणु और बीमारियाँ भी साथ लेकर चलते रहे हैं। 3,000 ईसा पूर्व में समुद्री तटों पर होने वाले व्यापार के माध्यम से सिंधु घाटी की सभ्यता उस इलाक़े से भी जुड़ी हुई थी जिसे आज हम पश्चिमी एशिया के नाम से जानते हैं। हज़ार साल से भी ज़्यादा समय से मालदीव के समुद्र में पाई जाने वाली कौड़ियाँ (जिन्हें पैसे या मुद्रा के रूप में इस्तेमाल किया जाता था) चीन और पूर्वी अफ़्रीका तक पहुँचती रही हैं। बीमारी फैलाने वाले कीटाणुओं का दूर-दूर तक पहुँचने का इतिहास भी सातवीं सदी तक ढूँढ़ा जा सकता है। तेरहवीं सदी के बाद तो इनके प्रसार को निश्चय ही साफ़ देखा जा सकता है।

चित्र 1 – एक स्मृतिशिला पर पानी के एक जहाज़ का चित्र, गोवा संग्रहालय, दसवीं शताब्दी।
पश्चिमी तट के क्षेत्र में पाई गई नवीं सदी के बाद की स्मृतिशिलाओं पर जलपोतों की तसवीरों से उस काल में समुद्री व्यापार के महत्त्व का पता चलता है।

© NCERT not to be republished

1.1 रेशम मार्ग (सिल्क रूट) से जुड़ती दुनिया

आधुनिक काल से पहले के युग में दुनिया के दूर-दूर स्थित भागों के बीच व्यापारिक और सांस्कृतिक संपर्कों का सबसे जीवंत उदाहरण सिल्क मार्गों के रूप में दिखाई देता है। 'सिल्क मार्ग' नाम से पता चलता है कि इस मार्ग से पश्चिम को भेजे जाने वाले चीनी रेशम (सिल्क) का कितना महत्त्व था। इतिहासकारों ने बहुत सारे सिल्क मार्गों के बारे में बताया है। ज़मीन या समुद्र से होकर गुज़रने वाले ये रास्ते न केवल एशिया के विशाल क्षेत्रों को एक-दूसरे से जोड़ने का काम करते थे बल्कि एशिया को यूरोप और उत्तरी अफ़्रीका से भी जोड़ते थे। ऐसे मार्ग ईसा पूर्व के समय में ही सामने आ चुके थे और लगभग पंद्रहवीं शताब्दी तक अस्तित्व में थे। इसी रास्ते से चीनी पॉटरी जाती थी और इसी रास्ते से भारत व दक्षिण-पूर्व एशिया के कपड़े व मसाले दुनिया के दूसरे भागों में पहुँचते थे। वापसी में सोने-चाँदी जैसी कीमती धातुएँ यूरोप से एशिया पहुँचती थीं।

चित्र 2 – चीन की एक गुफ़ा पेंटिंग में दर्शाया गया सिल्क मार्ग, आठवीं सदी, गुफ़ा 217, मोगाओ ग्राटोज़, गन्सू, चीन।

व्यापार और सांस्कृतिक आदान-प्रदान, दोनों प्रक्रियाएँ साथ-साथ चलती थीं। शुरुआती काल के ईसाई मिशनरी निश्चय ही इसी मार्ग से एशिया में आते होंगे। कुछ सदी बाद मुस्लिम धर्मोपदेशक भी इसी रास्ते से दुनिया में फैले। इससे भी बहुत पहले पूर्वी भारत में उपजा बौद्ध धर्म सिल्क मार्ग की विविध शाखाओं से ही कई दिशाओं में फैल चुका था।

1.2 भोजन की यात्रा : स्पैघेत्ती और आलू

हमारे खाद्य पदार्थ दूर देशों के बीच सांस्कृतिक आदान-प्रदान के कई उदाहरण पेश करते हैं। जब भी व्यापारी और मुसाफिर किसी नए देश में जाते थे, जाने-अनजाने वहाँ नयी फ़सलों के बीज बो आते थे। संभव है कि दुनिया के विभिन्न भागों में मिलने वाले 'झटपट तैयार होने वाले' (Ready) खाद्य पदार्थों के भी साझा स्रोत रहे हों। आइए स्पैघेत्ती (Spaghetti) और नूडल्स का ही उदाहरण लें। माना जाता है कि नूडल्स चीन से पश्चिम में पहुँचे और वहाँ उन्हीं से स्पैघेत्ती का जन्म हुआ, या संभव है कि पास्ता अरब यात्रियों के साथ पाँचवीं सदी में सिसली पहुँचा जो अब इटली का ही एक टापू है। इसी तरह के आहार भारत और जापान में भी पाए जाते हैं इसलिए हो सकता कि हम कभी यह न जान सकें कि उनका जन्म कैसे हुआ होगा। फिर भी, इन अनुमानों के आधार पर इतना ज़रूर कहा जा सकता है कि आधुनिक काल से पहले भी दूर देशों के बीच सांस्कृतिक लेन-देन चल रहा होगा।

चित्र 3 – वेनिस एवं पूर्वी विश्व से आए व्यापारी चीजों की अदला-बदली करते हुए, मार्को पोलो, बुक ऑफ़ मार्वल्स, पंद्रहवीं सदी।

आलू, सोया, मूँगफली, मक्का, टमाटर, मिर्च, शकरकंद और ऐसे ही बहुत सारे दूसरे खाद्य पदार्थ लगभग पाँच सौ साल पहले हमारे पूर्वजों के पास नहीं थे। ये खाद्य पदार्थ यूरोप और एशिया में तब पहुँचे जब क्रिस्टोफर कोलंबस

गलती से उन अज्ञात महाद्वीपों में पहुँच गया था जिन्हें बाद में अमेरिका के नाम से जाना जाने लगा। (यहाँ 'अमेरिका' का मतलब उत्तरी अमेरिका, दक्षिणी अमेरिका और कैरीबियन द्वीपसमूह, सभी से है।) दरअसल, हमारे बहुत सारे खाद्य पदार्थ अमेरिका के मूल निवासियों यानी अमेरिकन इंडियनों से हमारे पास आए हैं।

कई बार नयी फ़सलों के आने से जीवन में ज़मीन-आसमान का फ़र्क़ आ जाता था। साधारण से आलू का इस्तेमाल शुरू करने पर यूरोप के ग़रीबों की ज़िंदगी आमूल रूप से बदल गई थी। उनका भोजन बेहतर हो गया और उनकी औसत उम्र बढ़ने लगी। आयरलैंड के गरीब काश्तकार तो आलू पर इस हद तक निर्भर हो चुके थे कि जब 1840 के दशक के मध्य में किसी बीमारी के कारण आलू की फ़सल खराब हो गई तो लाखों लोग भुखमरी के कारण मौत के मुँह में चले गए।

1.3 विजय, बीमारी और व्यापार

सोलहवीं सदी में जब यूरोपीय जहाज़ियों ने एशिया तक का समुद्री रास्ता ढूँढ़ लिया और वे पश्चिमी सागर को पार करते हुए अमेरिका तक जा पहुँचे तो पूर्व-आधुनिक विश्व बहुत छोटा सा दिखाई देने लगा। इससे पहले कई सदियों से हिंद महासागर के पानी में फलता-फूलता व्यापार, तरह-तरह के सामान, लोग, ज्ञान और परंपराएँ एक जगह से दूसरी जगह आ-जा रही थीं। भारतीय उपमहाद्वीप इन प्रवाहों के रास्ते में एक अहम बिंदु था। पूरे नेटवर्क में इस इलाक़े का भारी महत्त्व था। यूरोपीयों के दाखिले से यह आवाजाही और बढ़ने लगी और इन प्रवाहों की दिशा यूरोप की तरफ़ भी मुड़ने लगी।

अपनी 'खोज' से पहले लाखों साल से अमेरिका का दुनिया से कोई संपर्क नहीं था। लेकिन सोलहवीं सदी से उसकी विशाल भूमि और बेहिसाब फ़सलें व खनिज पदार्थ हर दिशा में जीवन का रूप-रंग बदलने लगे।

आज के पेरू और मैक्सिको में मौजूद खानों से निकलने वाली क़ीमती धातुओं, खासतौर से चाँदी, ने भी यूरोप की संपदा को बढ़ाया और पश्चिम एशिया के साथ होने वाले उसके व्यापार को गति प्रदान की। सत्रहवीं सदी के आते-आते पूरे यूरोप में दक्षिणी अमेरिका की धन-संपदा के बारे में तरह-तरह के क़िस्से बनने लगे थे। इन्हीं किंवदंतियों की बदौलत वहाँ के लोग एल डोराडो को सोने का शहर मानने लगे और उसकी खोज में बहुत सारे खोजी अभियान शुरू किए गए।

सोलहवीं सदी के मध्य तक आते-आते पुर्तगाली और स्पेनिश सेनाओं की विजय का सिलसिला शुरू हो चुका था। उन्होंने अमेरिका को उपनिवेश बनाना शुरू कर दिया था। यूरोपीय सेनाएँ केवल अपनी सैनिक ताकत के दम पर नहीं जीतती थीं। स्पेनिश विजेताओं के सबसे शक्तिशाली हथियारों में परंपरागत क़िस्म का सैनिक हथियार तो कोई था ही नहीं। यह हथियार तो चेचक जैसे कीटाणु थे जो स्पेनिश सैनिकों और अफ़सरों के साथ वहाँ जा पहुँचे थे। लाखों साल से दुनिया से अलग-थलग रहने के कारण अमेरिका के लोगों के शरीर में यूरोप से आने वाली इन बीमारियों से बचने की रोग-प्रतिरोधी क्षमता नहीं थी।

चित्र 4 - आयरलैंड में आलू अकाल, इलस्ट्रेटेड लंदन न्यूज़, 1849
फ़सल कट जाने के बाद बचे-खुचे आलुओं की उम्मीद में खेत की मिट्टी खोदते बच्चे। 1845 से 1849 के बीच पड़े भयानक आयरिश आलू अकाल के दौरान आयरलैंड के लगभग 10,00,000 लोग भुखमरी के कारण मारे गए थे और इससे दोगुने लोग काम की तलाश में घर-बार छोड़ कर दूसरे इलाक़ों में चले गए थे।

बॉक्स 1

'जैविक' युद्ध?

न्यू इंग्लैंड स्थित मैसाचुसेट्स बे कॉलोनी के पहले गवर्नर जॉन विनथॉर्प ने मई 1634 में लिखा था कि छोटी चेचक उपनिवेशकारों के लिए ईश्वर का वरदान है : '... देशी जनता ... छोटी चेचक के कारण लगभग पूरी खत्म हो चुकी थी। इस तरह परमेश्वर ने हमारी मिल्कीयत पर हमें मालिकाना दे दिया।'

अल्फ़्रेड क्रॉस्बी, *इकोलॉजिकल इंपीरियलिज़्म*

फलस्वरूप, इस नए स्थान पर चेचक बहुत मारक साबित हुई। एक बार संक्रमण शुरू होने के बाद तो यह बीमारी पूरे महाद्वीप में फैल गई। जहाँ यूरोपीय लोग नहीं पहुँचे थे वहाँ के लोग भी इसकी चपेट में आने लगे। इसने पूरे के पूरे समुदायों को खत्म कर डाला। इस तरह घुसपैठियों की जीत का रास्ता आसान होता चला गया।

बंदूकों को तो खरीद कर या छीन कर हमलावरों के ख़िलाफ़ भी इस्तेमाल किया जा सकता था। पर चेचक जैसी बीमारियों के मामले में तो ऐसा नहीं किया जा सकता था क्योंकि हमलावरों के पास उससे बचाव का तरीका भी था और उनके शरीर में रोग प्रतिरोधी क्षमता भी विकसित हो चुकी थी।

उन्नीसवीं सदी तक यूरोप में गरीबी और भूख का ही साम्राज्य था। शहरों में बेहिसाब भीड़ थी और बीमारियों का बोलबाला था। धार्मिक टकराव आम थे। धार्मिक **असंतुष्टों** को कड़ा दंड दिया जाता था। इस वजह से हज़ारों लोग यूरोप से भागकर अमेरिका जाने लगे। अठारहवीं सदी तक अमेरिका में अफ़्रीका से पकड़ कर लाए गए गुलामों को काम में झोंक कर यूरोपीय बाज़ारों के लिए कपास और चीनी का उत्पादन किया जाने लगा था।

अठारहवीं शताब्दी का काफ़ी समय बीत जाने के बाद भी चीन और भारत को दुनिया के सबसे धनी देशों में गिना जाता था। एशियाई व्यापार में भी उन्हीं का दबदबा था। लेकिन विशेषज्ञों का मानना है कि पंद्रहवीं सदी से चीन ने दूसरे देशों के साथ अपने संबंध कम करना शुरू कर दिए और वह दुनिया से अलग-थलग पड़ने लगा। चीन की घटती भूमिका और अमेरिका के बढ़ते महत्त्व के चलते विश्व व्यापार का केंद्र पश्चिम की ओर खिसकने लगा। अब यूरोप ही विश्व व्यापार का सबसे बड़ा केंद्र बन गया।

नए शब्द

असंतुष्ट : जो स्थापित विश्वासों और तरीक़ों को नहीं मानता।

चर्चा करें

जब हम कहते हैं कि सोलहवीं सदी में दुनिया 'सिकुड़ने' लगी थी तो इसका क्या मतलब है।

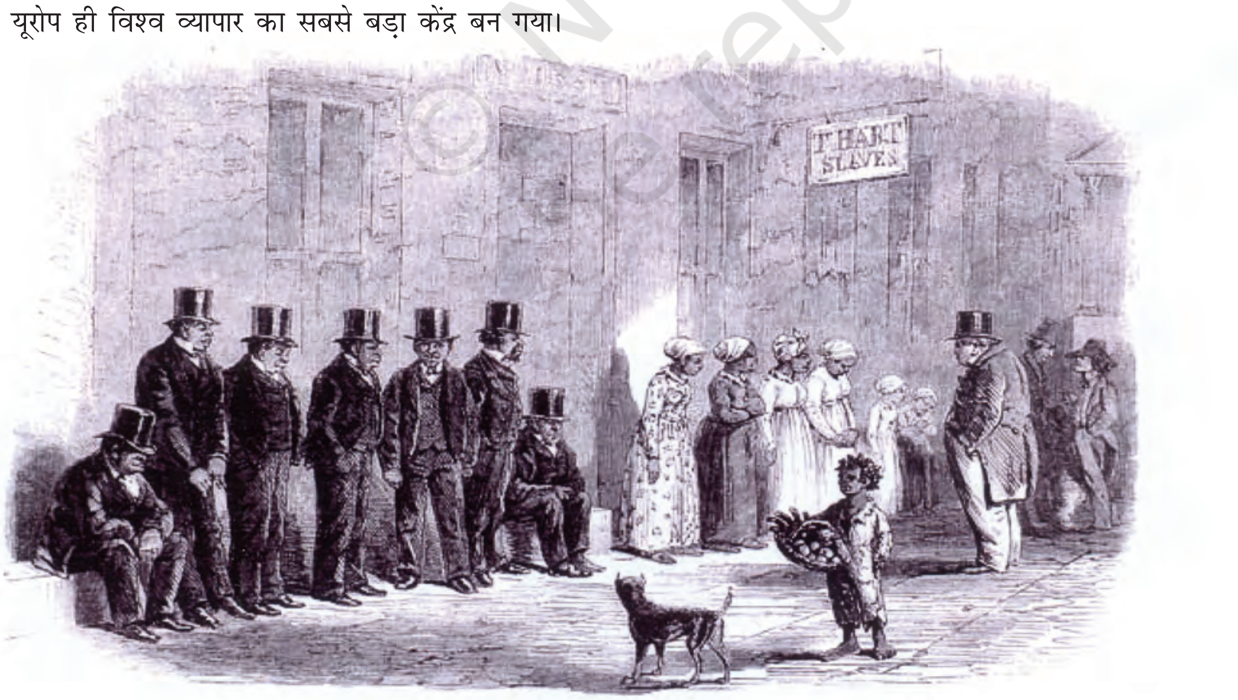

चित्र 5 – ग़ुलामों की खरीद-फ़रोख़्त, न्यू ऑर्लियंस, इलस्ट्रेटेड लंदन न्यूज़, 1851
एक खरीदार नीलामी के लिए क़तार में खड़े गुलामों को गौर से देख रहा है। इस चित्र में चार औरतों और लंबी टोपियाँ पहने सात पुरुषों के साथ दो बच्चे भी बिकने के लिए ख़ड़े हैं। अच्छी क़ीमत पाने के लिए ग़ुलामों को अकसर बढ़िया कपड़े पहना कर बाज़ार में लाया जाता था।

© NCERT not to be republished

2019-20

2 उन्नीसवीं शताब्दी (1815–1914)

उन्नीसवीं सदी में दुनिया तेज़ी से बदलने लगी। आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और तकनीकी कारकों ने पूरे के पूरे समाजों की कायापलट कर दी और विदेश संबंधों को नए ढर्रे में ढाल दिया।

अर्थशास्त्रियों ने अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक विनिमय में तीन तरह की गतियों या 'प्रवाहों' का उल्लेख किया है। इनमें पहला प्रवाह व्यापार का होता है जो उन्नीसवीं सदी में मुख्य रूप से वस्तुओं (जैसे कपड़ा या गेहूँ आदि) के व्यापार तक ही सीमित था। दूसरा, श्रम का प्रवाह होता है। इसमें लोग काम या रोज़गार की तलाश में एक जगह से दूसरी जगह जाते हैं। तीसरा प्रवाह पूँजी का होता है जिसे अल्प या दीर्घ अवधि के लिए दूर-दराज़ के इलाक़ों में निवेश कर दिया जाता है।

ये तीनों तरह के प्रवाह एक-दूसरे से जुड़े हुए थे और लोगों के जीवन को प्रभावित करते थे। कभी-कभी इन कारकों के बीच मौजूद संबंध टूट भी जाते थे। उदाहरण के लिए, वस्तुओं या पूँजी की आवाजाही के मुक़ाबले श्रमिकों की आवाजाही पर प्राय: ज़्यादा शर्तें और बंदिशें लगाई जाती थीं। फिर भी, यदि हम इन तीनों प्रवाहों का एक साथ अध्ययन करें तो उन्नीसवीं सदी की विश्व अर्थव्यवस्था को ज़्यादा अच्छी तरह समझ सकते हैं।

2.1 विश्व अर्थव्यवस्था का उदय

इस विषय को समझने के लिए सबसे पहले औद्योगिक यूरोप में खाद्य उत्पादन और उपभोग के बदलते रुझानों पर विचार करें तो बेहतर होगा। सामान्य रूप से सभी देश भोजन के मामले में आत्मनिर्भर होने का प्रयास करते रहे हैं। लेकिन उन्नीसवीं सदी के ब्रिटेन की बात अलग थी। अगर उस समय ब्रिटेन खाद्य आत्मनिर्भरता के रास्ते पर चलता तो वहाँ के लोगों का जीवनस्तर गिर जाता और सामाजिक तनाव फैलता। आइए देखें कि इस आशंका के पीछे क्या कारण थे?

अठारहवीं सदी के आखिरी दशकों में ब्रिटेन की आबादी तेज़ी से बढ़ने लगी थी। नतीजा, देश में भोजन की माँग भी बढ़ी। जैसे-जैसे शहर फैले और उद्योग बढ़ने लगे, कृषि उत्पादों की माँग भी बढ़ने लगी। कृषि उत्पाद मँहगे होने लगे। दूसरी तरफ़ बड़े भूस्वामियों के दबाव में सरकार ने मक्का के आयात पर भी पाबंदी लगा दी थी। जिन क़ानूनों के सहारे सरकार ने यह पाबंदी लागू की थी उन्हें 'कॉर्न लॉ' कहा जाता था। खाद्य पदार्थों की ऊँची क़ीमतों से परेशान उद्योगपतियों और शहरी बाशिंदों ने सरकार को मजबूर कर दिया कि वह कॉर्न लॉ को फ़ौरन समाप्त कर दे।

कॉर्न लॉ के निरस्त हो जाने के बाद बहुत कम कीमत पर खाद्य पदार्थों का आयात किया जाने लगा। आयातित खाद्य पदार्थों की लागत ब्रिटेन में पैदा होने वाले खाद्य पदार्थों से भी कम थी। फलस्वरूप, ब्रिटिश किसानों की हालत बिगड़ने लगी क्योंकि वे आयातित माल की क़ीमत का मुक़ाबला नहीं कर सकते थे। विशाल भूभागों पर खेती बंद हो गई। हज़ारों लोग बेरोज़गार हो गए। गाँवों से उजड़ कर वे या तो शहरों में या दूसरे देशों में जाने लगे।

© NCERT not to be republished

जब खाद्य पदार्थों की क़ीमतों में गिरावट आई तो ब्रिटेन में उपभोग का स्तर बढ़ गया। उन्नीसवीं सदी के मध्य से ब्रिटेन की औद्योगिक प्रगति काफ़ी तेज़ रही जिससे लोगों की आय में वृद्धि हुई। इससे लोगों की ज़रूरतें बढ़ीं। खाद्य पदार्थों का और भी ज़्यादा मात्रा में आयात होने लगा। पूर्वी यूरोप, रूस, अमेरिका और ऑस्ट्रेलिया, दुनिया के हर हिस्से में ब्रिटेन का पेट भरने के लिए ज़मीनों को साफ़ करके खेती की जाने लगी।

खेती के लिए ज़मीन को साफ़ कर देना ही काफ़ी नहीं था। खेतिहर इलाक़ों को बंदरगाहों से जोड़ने के लिए रेलवे की भी ज़रूरत थी। ज़्यादा तादाद में माल ढुलाई के लिए नयी गोदियाँ बनाना और पुरानी गोदियों को फैलाना ज़रूरी था। नयी जमीनों पर खेती करने के लिए यह आवश्यक था कि दूसरे इलाक़ों के लोग वहाँ आकर बसें। यानी नए घर बनाना और नयी बस्तियाँ बसाना भी ज़रूरी था। इन सारे कामों के लिए पूँजी और श्रम की जरूरत थी। इसके लिए लंदन जैसे वित्तीय केंद्रों से पूँजी आने लगी। अमेरिका और ऑस्ट्रेलिया जैसे जिन स्थानों पर मजदूरों की कमी थी वहाँ लोगों को ले जाकर बसाया जाने लगा यानी श्रम का प्रवाह होने लगा।

उन्नीसवीं सदी में यूरोप के लगभग पाँच करोड़ लोग अमेरिका और ऑस्ट्रेलिया में जाकर बस गए। माना जाता है कि पूरी दुनिया में लगभग पंद्रह करोड़ लोग बेहतर भविष्य की चाह में अपने घर-बार छोड़कर दूर-दूर के देशों में जाकर काम करने लगे थे।

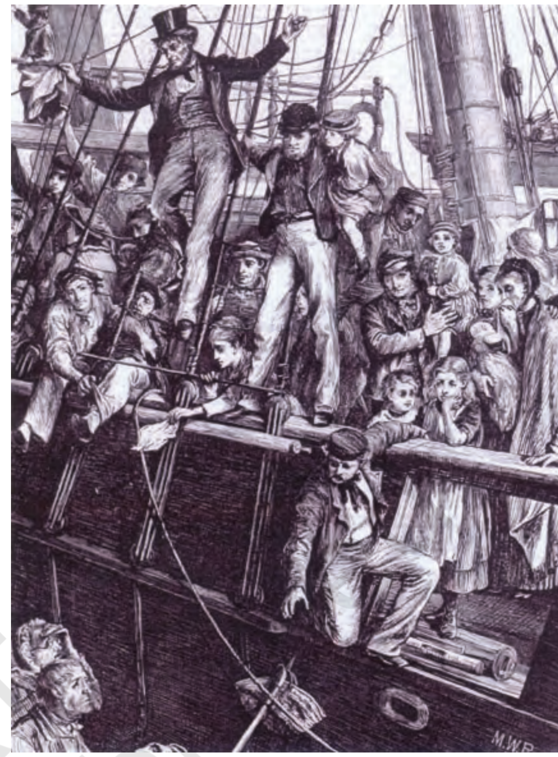

चित्र 6 – अमेरिका को रवाना होते आप्रवासियों से लदे जहाज़ का चित्र, एम.डब्ल्यू. रिडले, 1869

चित्र 7 – जहाज़ पर चढ़ने का इंतज़ार करते आयरिश आप्रवासियों का चित्र, माइकेल फिट्ज़ज़ेराल्ड, 1874

1890 तक एक वैश्विक कृषि अर्थव्यवस्था सामने आ चुकी थी। इस घटनाक्रम के साथ ही श्रम विस्थापन रुझानों, पूँजी प्रवाह, पारिस्थितिकी और तकनीक में गहरे बदलाव आ चुके थे। अब भोजन किसी आसपास के गांव या क़स्बे से नहीं बल्कि हज़ारों मील दूर से आने लगा था। अब अपने खेतों पर खुद काम करने वाले किसान ही खाद्य पदार्थ पैदा नहीं कर रहे थे। अब यह काम ऐसे औद्योगिक मज़दूर करने लगे थे जो संभवतः हाल ही में वहाँ आए थे और ऐसे खेतों में काम कर रहे थे जहाँ महज़ एक पीढ़ी पहले संभवतः ठेठ जंगल रहे होंगे। खाद्य पदार्थों को एक जगह से दूसरी जगह पहुँचाने के लिए रेलवे का इस्तेमाल किया जाता था। रेल का नेटवर्क इसी काम के लिए बिछाया गया था। पानी के जहाज़ों से इसे दूसरे देशों में पहुँचाया जाता था। इन जहाज़ों पर दक्षिण यूरोप, एशिया, अफ़्रीका और कैरीबियाई द्वीपसमूह के मज़दूरों से बहुत कम वेतन पर काम करवाया जाता था।

गतिविधि

कल्पना कीजिए कि आप आयरलैंड से अमेरिका में आए एक खेत मज़दूर हैं। इस बारे में एक पैराग्राफ़ लिखिए कि आपने यहाँ आने का फ़ैसला क्यों किया और अब आप अपनी रोज़ी-रोटी कमाने के लिए क्या करते हैं।

गतिविधि

फ्लो चार्ट के माध्यम से दर्शाइए कि जब ब्रिटेन ने खाद्य पदार्थों के आयात का निर्णय लिया तो उसके कारण अमेरिका और ऑस्ट्रेलिया की ओर पलायन करने वालों की संख्या क्यों बढ़ने लगी?

बहुत छोटे पैमाने पर ही सही लेकिन इसी तरह के नाटकीय बदलाव हम अपने यहाँ पंजाब में भी देख सकते हैं। यहाँ ब्रिटिश भारतीय सरकार ने अर्द्ध-रेगिस्तानी परती जमीनों को उपजाऊ बनाने के लिए नहरों का जाल बिछा दिया ताकि निर्यात के लिए गेहूँ और कपास की खेती की जा सके। नयी नहरों की सिंचाई वाले इलाक़ों में पंजाब के अन्य स्थानों के लोगों को लाकर बसाया गया। उनकी बस्तियों को केनाल कॉलोनी (नहर बस्ती) कहा जाता था।

भोजन तो सिर्फ़ एक उदाहरण मात्र है। कुछ ऐसी ही कहानी कपास की भी रही है जिसकी दुनिया भर में बड़े पैमाने पर खेती की जाने लगी थी ताकि ब्रिटिश कपड़ा मिलों की माँग को पूरा किया जा सके। रबड़ की कहानी भी इससे अलग नहीं है। विभिन्न चीजों के उत्पादन में विभिन्न इलाक़ों ने इतनी महारत हासिल कर ली थी कि 1820 से 1914 के बीच विश्व व्यापार में 25 से 40 गुना वृद्धि हो चुकी थी। इस व्यापार में लगभग 60 प्रतिशत हिस्सा 'प्राथमिक उत्पादों' यानी गेहूँ और कपास जैसे कृषि उत्पादों तथा कोयले जैसे खनिज पदार्थों का था।

2.2 तकनीक की भूमिका

इस घटनाक्रम में तकनीक की क्या भूमिका रही? रेलवे, भाप के जहाज़, टेलिग्राफ़, ये सब तकनीकी बदलाव बहुत महत्त्वपूर्ण रहे। उनके बिना उन्नीसवीं सदी में आए परिवर्तनों की कल्पना नहीं की जा सकती थी। तकनीकी प्रगति अकसर चौतरफ़ा सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक कारकों का परिणाम भी होती है। उदाहरण के लिए, औपनिवेशीकरण के कारण यातायात और परिवहन साधनों में भारी सुधार किए गए। तेज़ चलने वाली रेलगाड़ियाँ बनीं, बोगियों का भार कम किया गया, जलपोतों का आकार बढ़ा जिससे किसी भी उत्पाद को खेतों से दूर-दूर के बाज़ारों में कम लागत पर और ज़्यादा आसानी से पहुँचाया जा सके।

2019-20

© NCERT not to be republished

चित्र 8 – **द *स्मिथफ़ील्ड क्लब पशु बाज़ार, 1851*, इलस्ट्रेटेड लंदन न्यूज़।**
मेलों में किसान अपने पालतू जानवर लाते थे जिनकी वहाँ ख़रीद-फ़रोख़्त की जाती थी। स्मिथफ़ील्ड में लंदन का सबसे पुराना पशु बाज़ार था। उन्नीसवीं सदी के मध्य में स्मिथफ़ील्ड के पास एक विशाल मुर्गी एवं मांस बाज़ार खोला गया था जहाँ से देश के सभी बड़े मांस आपूर्ति केंद्रों को रेलवे लाइनें जाती थीं।

मांस उत्पादों के व्यापार से इस प्रक्रिया का अच्छा अंदाज़ा मिलता है। 1870 के दशक तक अमेरिका से यूरोप को मांस का निर्यात नहीं किया जाता था। उस समय केवल ज़िंदा जानवर ही भेजे जाते थे जिन्हें यूरोप ले जाकर ही काटा जाता था। लेकिन ज़िंदा जानवर बहुत ज़्यादा जगह घेरते थे। बहुत सारे तो लंबे सफ़र में मर जाते थे या बीमार पड़ जाते थे। बहुतों का वज़न गिर जाता था या वे खाने के लायक नहीं रह जाते थे। इसी वजह से मांस खाना एक मँहगा सौदा था और यूरोप के ग़रीबों की पहुँच से बाहर था। दूसरी तरफ़, ऊँची कीमतों के कारण मांस उत्पादों की माँग और उत्पादन भी कम रहता था। नयी तकनीक के आने पर यह स्थिति बदल गई। पानी के जहाज़ों में रेफ़्रिजरेशन की तकनीक स्थापित कर दी गई जिससे जल्दी खराब होने वाली चीज़ों को भी लंबी यात्राओं पर ले जाया जा सकता था।

चित्र 9 – *मांस को अलेक्सांद्रा, जलपोत पर लादा जा रहा है*, इलस्ट्रेटेड लंदन न्यूज़, *1878*
मांस का निर्यात तभी संभव हो पाया जब जहाज़ों को ठंडा रखने की व्यवस्था कर ली गई थी।

इसके बाद तो जानवरों को यात्रा से पहले ही मारा जाने लगा। अमेरिका, ऑस्ट्रेलिया या न्यूज़ीलैंड, सब जगह से जानवरों की बजाय उनका मांस ही यूरोप भेजा जाने लगा। इससे न केवल समुद्री यात्रा में आने वाला खर्चा कम हो गया बल्कि यूरोप में मांस के दाम भी गिर गए। यूरोप के गरीबों को ज़्यादा विविधतापूर्ण खुराक मिलने लगी। पहले उनके पास सिर्फ़ आलू और ब्रेड होते थे। अब बहुत सारे लोगों के भोजन में मांसाहार (और मक्खन व अंडे) भी शामिल हो गया। जीवनस्थिति सुधरी तो देश में शांति स्थापित होने लगी और दूसरे देशों में साम्राज्यवादी मंसूबों को समर्थन मिलने लगा।

2.3 उन्नीसवीं सदी के आखिर में उपनिवेशवाद

उन्नीसवीं शताब्दी के आखिरी दशकों में व्यापार बढ़ा और बाज़ार तेज़ी से फैलने लगे। यह केवल फैलते व्यापार और संपन्नता का ही दौर नहीं था। हमें इस प्रक्रिया के स्याह पक्ष को भी नज़रअंदाज़ नहीं करना चाहिए। व्यापार में इज़ाफ़े और विश्व अर्थव्यवस्था के साथ निकटता का एक परिणाम यह हुआ कि दुनिया के बहुत सारे भागों में स्वतंत्रता और आजीविका के साधन छिनने लगे। उन्नीसवीं सदी के आखिरी दशकों में यूरोपीयों की विजयों से बहुत सारे कष्टदायक आर्थिक, सामाजिक और पारिस्थितिकीय परिवर्तन आए और औपनिवेशिक समाजों को विश्व अर्थव्यवस्था में समाहित कर लिया गया।

ज़रा अफ़्रीका के मानचित्र को देखिए। आप पाएँगे कि वहाँ के कुछ देशों की सीमाएँ तो बिलकुल सीधी लकीर जैसी हैं मानो उन्हें फुट्टा (Scale) रखकर खींचा गया हो। दुर्भाग्यवश, यही हुआ भी था। अफ़्रीका पर क़ब्ज़े की कोशिश में लगी प्रतिद्वंद्वी यूरोपीय ताक़तों ने अपने-अपने इलाके बाँटने के लिए प्राय: इसी तरीके का सहारा लिया था। 1885 में यूरोप के ताकतवर देशों की बर्लिन में एक बैठक हुई जिसमें अफ़्रीका के नक़्शे पर इसी तरह लकीरें खींचकर उसको आपस में बाँट लिया गया था।

उन्नीसवीं सदी के आखिर में ब्रिटेन और फ़्रांस ने अपने शासन वाले विदेशी क्षेत्रफल में भारी वृद्धि कर ली थी। बेल्जियम और जर्मनी नयी औपनिवेशिक ताक़तों के रूप में सामने आए। पहले स्पेन के कब्ज़े में रह चुके कुछ उपनिवेशों पर क़ब्ज़ा करके 1890 के दशक के आखिरी वर्षों में संयुक्त राज्य अमेरिका भी औपनिवेशिक ताक़त बन गया।

आइए देखें कि उपनिवेशवाद से औपनिवेशिक समाजों की अर्थव्यवस्था और रोज़ी-रोटी के साधनों पर क्या असर पड़ा।

चित्र 10 – उन्नीसवीं सदी के आखिर में औपनिवेशिक अफ़्रीका का मानचित्र।

बॉक्स 2

मध्य अफ़्रीका में सर हेनरी मॉर्टन स्टैनली

स्टैनली एक पत्रकार और खोजी थे। *न्यूयॉर्क हैरल्ड* ने उन्हें कई साल पहले अफ़्रीका गए लिविंग्स्टन नामक मिशनरी की खोज करने के लिए भेजा था। उस ज़माने के अन्य यूरोपीय और अमेरिकी अन्वेषकों की भाँति स्टैनली भी हथियारों से लैस होकर गए थे। उन्होंने वहाँ जाकर स्थानीय शिकारियों, योद्धाओं और मजदूरों को इकट्ठा किया, स्थानीय कबीलों के साथ लड़ाइयाँ लड़ीं, अफ़्रीकी भूदृश्य की पड़ताल की और विभिन्न इलाकों के नक़्शे बनाए। बाद में इन खोजों और अन्वेषणों से अफ़्रीका को जीतने में मदद मिली। ऐसे भौगोलिक अन्वेषण केवल वैज्ञानिक जानकारियाँ इकट्ठा करने की सामान्य इच्छा से प्रेरित नहीं होते थे। उनका साम्राज्यवादी योजनाओं से सीधा संबंध होता था।

चित्र 11 – मध्य अफ़्रीका में सर हेनरी मॉर्टन स्टैनली और उनकी टोली, इलस्ट्रेटेड लंदन न्यूज़, 1871

2.4 रिंडरपेस्ट या मवेशी प्लेग

अफ़्रीका में 1890 के दशक में रिंडरपेस्ट नामक बीमारी बहुत तेज़ी से फैल गई। मवेशियों में प्लेग की तरह फैलने वाली इस बीमारी से लोगों की आजीविका और स्थानीय अर्थव्यवस्था पर गहरा असर पड़ा। यह इस बात का अच्छा उदाहरण है कि औपनिवेशिक समाजों पर यूरोपीय साम्राज्यवादी ताक़तों के प्रभाव से बड़े पैमाने पर क्या असर पड़े। इस उदाहरण से पता चलता है कि हमलों और विजयों के इस युग में दुर्घटनावश फैल गई मवेशियों की बीमारी ने भी हज़ारों लोगों का जीवन व भाग्य बदल कर रख दिया और दुनिया के साथ उनके संबंधों को नयी शक्ल में ढाल दिया।

चित्र 12 – ट्रांसवाल स्वर्ण खानों तक आवागमन, द ग्राफ़िक, 1887
विल्ज नदी को पार करना ट्रांसवाल की सोना खदानों तक पहुँचने का सबसे छोटा और आसान रास्ता था। विट्वॉटर्सरैंड में सोने की खोज के बाद तो बीमारियों और मौत की आशंका व रास्ते की कठिनाइयों के बावजूद यूरोप के लोग उस इलाक़े की ओर दौड़ पड़े थे। 1890 के दशक तक आते-आते दुनिया भर के सोना उत्पादन में अफ़्रीका का हिस्सा 20 प्रतिशत से भी ऊपर जा चुका था।

प्राचीन काल से ही अफ़्रीका में ज़मीन की कभी कोई कमी नहीं रही जबकि वहाँ की आबादी बहुत कम थी। सदियों तक अफ़्रीकियों की ज़िंदगी व कामकाज ज़मीन और पालतू पशुओं के सहारे ही चलता रहा है। वहाँ पैसे या वेतन पर काम करने का चलन नहीं था। उन्नीसवीं सदी के आखिर में अफ़्रीका में ऐसे उपभोक्ता सामान बहुत कम थे जिन्हें वेतन के पैसे से खरीदा जा सकता था। अगर आप अफ़्रीका के किसान होते और आपके पास ज़मीन और पालतू पशु होते – जिनकी वहाँ कोई कमी नहीं थी – तो शायद आपको भी यह बात समझ में नहीं आती कि वेतन के लिए काम करने की क्या ज़रूरत है।

उन्नीसवीं सदी के आखिर में यूरोपीय ताक़तें अफ़्रीका के विशाल भूक्षेत्र और खनिज भंडारों को देखकर इस महाद्वीप की ओर आकर्षित हुई थीं। यूरोपीय लोग अफ़्रीका में बागानी खेती करने और खदानों का दोहन करना चाहते थे ताकि उन्हें वापस यूरोप भेजा जा सके। लेकिन वहाँ एक ऐसी समस्या पेश आई जिसकी उन्हें उम्मीद नहीं थी। वहाँ के लोग तनख़्वाह पर काम नहीं करना चाहते थे।

मज़दूरों की भर्ती और उन्हें अपने पास रोके रखने के लिए मालिकों ने बहुत सारे हथकंडे आज़मा कर देख लिए लेकिन बात नहीं बनी। उन पर भारी भरकम कर लाद दिए गए जिनका भुगतान केवल तभी किया जा सकता था

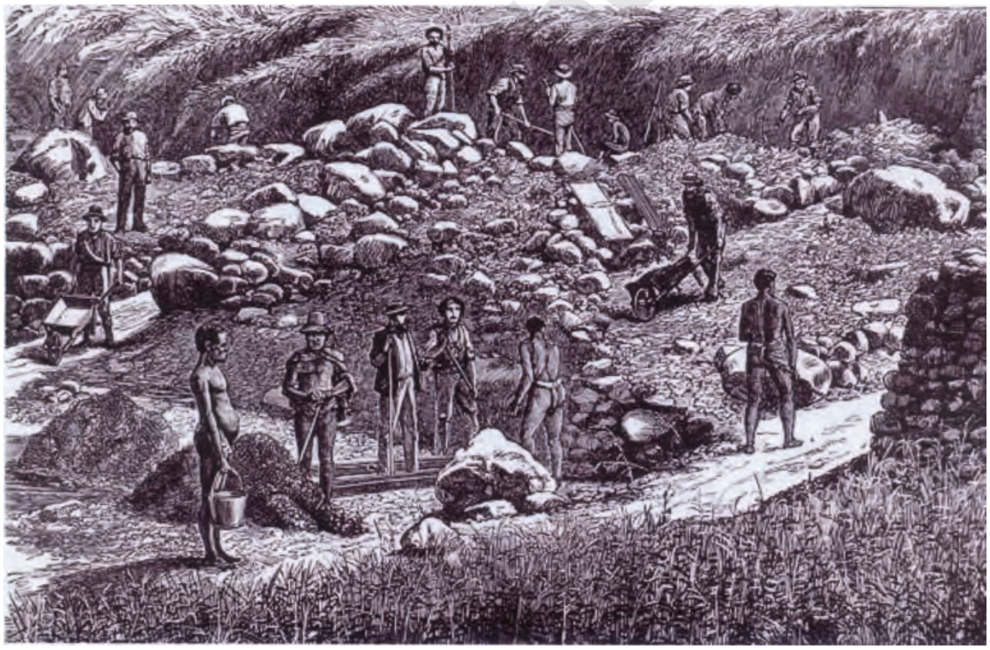

चित्र 13 – दक्षिण अफ़्रीका के ट्रांसवाल स्वर्ण खदानों में खुदाई करते मज़दूर, द ग्राफ़िक, 1875

जब करदाता बागानों या खदानों में काम करता हो। काश्तकारों को उनकी ज़मीन से हटाने के लिए उत्तराधिकार कानून भी बदल दिए गए। नए क़ानून में यह व्यवस्था कर दी गई कि अब परिवार के केवल एक ही सदस्य को पैतृक संपत्ति मिलेगी। इस क़ानून के ज़रिए परिवार के बाक़ी लोगों को श्रम बाज़ार में ढकेलने का प्रयास किया जाने लगा। खानकर्मियों को बाड़ों में बंद कर दिया गया। उनके खुलेआम घूमने-फिरने पर पाबंदी लगा दी गई।

तभी वहाँ रिंडरपेस्ट नामक विनाशकारी पशु रोग फैल गया।

अफ़्रीका में रिंडरपेस्ट नाम की बीमारी सबसे पहले 1880 के दशक के आखिरी सालों में दिखाई दी। उस समय पूर्वी अफ़्रीका में एरिट्रिया पर हमला कर रहे इतालवी सैनिकों का पेट भरने के लिए एशियाई देशों से जानवर लाए जाते थे। यह बीमारी ब्रिटिश अधिपत्य वाले एशियाई देशों से आए उन्हीं जानवरों के ज़रिए यहाँ पहुँची थी। अफ़्रीका के पूर्वी हिस्से से महाद्वीप में दाखिल होने वाली यह बीमारी 'जंगल की आग' की तरह पश्चिमी अफ़्रीका की तरफ़ बढ़ने लगी। 1892 में यह अफ़्रीका के अटलांटिक तट तक जा पहुँची। पाँच साल बाद यह केप (अफ़्रीका का धुर दक्षिणी हिस्सा) तक भी पहुँच गई। रिंडरपेस्ट ने अपने रास्ते में आने वाले 90 प्रतिशत मवेशियों को मौत की नींद सुला दिया।

पशुओं के खत्म हो जाने से तो अफ़्रीकियों के रोज़ी-रोटी के साधन ही खत्म हो गए। अपनी सत्ता को और मज़बूत करने तथा अफ़्रीकियों को श्रम बाज़ार में ढकेलने के लिए वहाँ के बागान मालिकों, खान मालिकों और औपनिवेशिक सरकारों ने बचे-खुचे पशु भी अपने क़ब्ज़े में ले लिए। बचे-खुचे पशु संसाधनों पर क़ब्ज़े से यूरोपीय उपनिवेशकारों को पूरे अफ़्रीका को जीतने व ग़ुलाम बना लेने का बेहतरीन मौक़ा हाथ लग गया था।

उन्नीसवीं सदी की दुनिया के अन्य भागों पर पश्चिमी आक्रमण और विजय के परिणामों की ऐसी ही और भी कहानियाँ देखी जा सकती हैं।

2.4 भारत से अनुबंधित श्रमिकों का जाना

भारत से अनुबंधित (गिरमिटिया) श्रमिकों को ले जाया जाना भी उन्नीसवीं सदी की दुनिया की विविधता को प्रतिबिंबित करता है। यह तेज़ आर्थिक वृद्धि के साथ-साथ जनता के कष्टों में वृद्धि, कुछ लोगों की आय में वृद्धि और दूसरों के लिए बेहिसाब गरीबी, कुछ क्षेत्रों में भारी तकनीकी प्रगति और दूसरे क्षेत्रों में उत्पीड़न के नए रूपों की ईजाद की दुनिया थी।

उन्नीसवीं सदी में भारत और चीन के लाखों मजदूरों को बागानों, खदानों और सड़क व रेलवे निर्माण परियोजनाओं में काम करने के लिए दूर-दूर के देशों में ले जाया जाता था। भारतीय अनुबंधित श्रमिकों को खास तरह के अनुबंध या एग्रीमेंट के तहत ले जाया जाता था। इन अनंबुधों में यह शर्त होती थी कि यदि मज़दूर अपने मालिक के बागानों में पाँच साल काम कर लेंगे तो वे स्वदेश लौट सकते हैं।

भारत के ज़्यादातर अनुबंधित श्रमिक मौजूदा पूर्वी उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्य भारत और तमिलनाडु के सूखे इलाक़ों से जाते थे। उन्नीसवीं सदी के मध्य में इन इलाक़ों में भारी बदलाव आने लगे थे। कुटीर उद्योग खत्म हो रहे थे,

2019-20

ज़मीन का भाड़ा बढ़ गया था, खानों और बागानों के लिए ज़मीनों को साफ़ किया जा रहा था। इन परिवर्तनों से गरीबों के जीवन पर गहरा असर पड़ा। वे बँटाई पर ज़मीन तो ले लेते थे लेकिन उसका भाड़ा नहीं चुका पाते थे, उन पर क़र्ज़ा चढ़ने लगा। काम की तलाश में उन्हें अपने घर-बार छोड़ने पड़े।

भारतीय अनुबंधित श्रमिकों को मुख्य रूप से कैरीबियाई द्वीप समूह (मुख्यतः त्रिनिदाद, गुयाना और सुरीनाम), मॉरिशस व फ़िजी ले जाया जाता था। तमिल आप्रवासी सीलोन और मलाया जाकर काम करते थे। बहुत सारे अनुबंधित श्रमिकों को असम के चाय बागानों में काम करवाने के लिए भी ले जाया जाता था।

चित्र 14 - त्रिनिदाद के एक कोको (Cocoa) बागान में काम करते भारतीय गिरमिटिया मज़दूर, उन्नीसवीं सदी का प्रारंभ।

मज़दूरों की भर्ती का काम मालिकों के एजेंट किया करते थे। एजेंटों को कमीशन मिलता था। बहुत सारे आप्रवासी अपने गाँव में होने वाले उत्पीड़न और ग़रीबी से बचने के लिए भी इन अनुबंधों को मान लेते थे। एजेंट भी भावी आप्रवासियों को फुसलाने के लिए झूठी जानकारियाँ देते थे। कहाँ जाना है, यात्रा के साधन क्या होंगे, क्या काम करना होगा, और नयी जगह पर काम व जीवन के हालात कैसे होंगे, इस बारे में उन्हें सही जानकारी नहीं दी जाती थी। बहुत सारे आप्रवासियों को तो यह भी नहीं बताया जाता था कि उन्हें लंबी समुद्री यात्रा पर जाना है। अगर कोई मज़दूर अनुबंध के लिए राजी नहीं होता था तो एजेंट उसका अपहरण तक कर लेते थे।

चर्चा करें

राष्ट्रीय पहचान के निर्माण में भाषा और लोक परंपराओं के महत्त्व पर चर्चा करें।

उन्नीसवीं सदी की इस अनुबंध व्यवस्था को बहुत सारे लोगों ने 'नयी दास प्रथा' का भी नाम दिया है। बागानों में या कार्यस्थल पर पहुँचने के बाद मज़दूरों को पता चलता था कि वे जैसी उम्मीद कर रहे थे यहाँ वैसे हालात नहीं हैं। नयी जगह की जीवन एवं कार्य स्थितियाँ कठोर थीं और मज़दूरों के पास क़ानूनी अधिकार कहने भर को भी नहीं थे। इसके बावजूद मज़दूरों ने भी ज़िंदगी बसर करने के अपने तरीक़े ढूँढ़ निकाले। बहुत सारे तो भाग कर जंगलों में ही चले गए। अगर ऐसे मज़दूर पकड़े जाते तो उन्हें भारी सज़ा दी जाती थी। बहुतों ने अपनी पुरानी और नयी संस्कृतियों का सम्मिश्रण करते हुए व्यक्तिगत और सामूहिक आत्माभिव्यक्ति के नए रूप खोज लिए। त्रिनिदाद में मुहर्रम के सालाना जुलूस को एक विशाल उत्सवी मेले का रूप दे दिया गया। इस मेले को 'होसे' (इमाम हुसैन के नाम पर) नाम दिया गया। उसमें सभी धर्मों व नस्लों के मज़दूर हिस्सा लेते थे। इसी प्रकार रास्ताफारियानवाद (Rastafarianism) नामक विद्रोही धर्म (जिसे जमैका के रैगे गायक बॉब मार्ले ने ख्याति के शिखर पर पहुँचा दिया) में भी भारतीय आप्रवासियों और कैरीबियाई द्वीपसमूह के बीच इन संबंधों की झलक देखी जा सकती है। त्रिनिदाद और गुयाना में मशहूर 'चटनी म्यूज़िक' भी भारतीय आप्रवासियों के वहाँ पहुँचने के बाद सामने आई रचनात्मक अभिव्यक्तियों का ही उदाहरण है। सांस्कृतिक समागम के ये स्वरूप एक नयी वैश्विक दुनिया के उदय की प्रक्रिया का अंग थे। यह ऐसी प्रक्रिया थी जिसमें अलग-अलग स्थानों की चीज़ें आपस में घुल-मिल जाती थीं, उनकी मूल पहचान और विशिष्टताएँ गुम हो जाती थीं और बिलकुल नया रूप सामने आता था।

चित्र 15 - शिनाख़्त के लिए गिरमिटिया मज़दूरों के चित्र। *मालिकों के लिए इन मज़दूरों के नाम नहीं बल्कि उनकी संख्या का ही महत्त्व होता था।*

ज़्यादातर अनुबंधित श्रमिक अनुबंध समाप्त हो जाने के बाद भी वापस नहीं लौटे। जो वापस लौटे उनमें से भी अधिकांश केवल कुछ समय यहाँ बिता कर फिर अपने नए ठिकानों पर वापस चले गए। इसी कारण इन देशों में भारतीय मूल के लोगों की संख्या बहुत ज़्यादा पाई जाती है। क्या आपने नोबेल पुरस्कार विजेता साहित्यकार वी. एस. नायपॉल का नाम सुना है? आपमें से कुछ लोगों ने वेस्ट इंडीज़ के क्रिकेट खिलाड़ी शिवनैरैन चंद्रपॉल और रामनरेश सरवन का नाम भी सुना ही होगा। क्या आपको कभी ऐसा लगता है कि उनके नाम हम भारतीयों जैसे क्यों हैं? इसकी वजह यही है कि वे भारत से गए अनुबंधित मजदूरों के ही वंशज हैं।

बीसवीं सदी के शुरुआती सालों से ही हमारे देश के राष्ट्रवादी नेता इस प्रथा का विरोध करने लगे थे। उनकी राय में यह बहुत अपमानजनक और क्रूर व्यवस्था थी। इसी दबाव के कारण 1921 में इसे खत्म कर दिया गया। लेकिन इसके बाद भी कई दशक तक भारतीय अनुबंधित मजदूरों के वंशज कैरीबियाई द्वीप समूह में बेचैन अल्पसंख्यकों का जीवन जीते रहे। वहाँ के लोग उन्हें 'कुली' मानते थे और उनके साथ कुलियों जैसा बर्ताव करते थे। नायपॉल के कुछ प्रारंभिक उपन्यासों में विछोह और परायेपन के इस अहसास को खूब देखा जा सकता है।

चित्र 16 – एक अनुबंधित श्रमिक (गिरमिटिया मज़दूर) के अनुबंध का फॉर्म।

स्रोत-क

एक गिरमिटिया मज़दूर की आपबीती

राम नारायण तिवारी भारत से गए गिरमिटिया मजदूर थे जिन्होंने बीसवीं सदी की शुरुआत में डेमेरारा में दस साल काम किया था। उनके संस्मरण का एक अंश :

'... तमाम कोशिशों के बावजूद मैं उन कामों को ठीक से नहीं कर पाया जो मुझे सौंपे गए थे। ... कुछ ही दिनों के भीतर मेरे हाथ सब जगह से छिल गए और मैं हफ़्ते भर तक काम पर नहीं जा पाया जिसके लिए मुझे सज़ा दी गई और 14 दिन जेल में काटने पड़े। ... नए आप्रवासियों को काम बहुत भारी पड़ता था और वे दिन भर में अपना काम पूरा नहीं कर पाते थे। ... अगर काम संतोषजनक ढंग से पूरा न हुआ तो तनख़्वाह भी काट ली जाती है। इसीलिए बहुत सारे लोगों को उनका पूरा वेतन नहीं मिल पाता है और उन्हें तरह-तरह से सज़ा दी जाती है। दरअसल मज़दूरों को अपने अनुबंध की अवधि भारी मुश्किलों में बितानी पड़ती है..।'

स्रोत: वाणिज्य एवं उद्योग विभाग, आप्रवासन शाखा, 1916

स्रोत

2.5 विदेश में भारतीय उद्यमी

विश्व बाज़ार के लिए खाद्य पदार्थ व फ़सलें उगाने के वास्ते पूँजी की आवश्यकता थी। बड़े बागानों के लिए तो बाज़ार और बैंकों से पैसा लिया जा सकता था। लेकिन छोटे-मोटे किसानों का क्या होता?

यहीं से देशी साहूकार और महाजन दृश्य में आते हैं। क्या आपने शिकारीपुरी श्रॉफ और नट्टूकोट्टई चेट्टियारों के बारे में सुना है? ये उन बहुत सारे बैंकरों और व्यापारियों में से थे जो मध्य एवं दक्षिण पूर्व एशिया में निर्यातोन्मुखी खेती के लिए कर्ज़े देते थे। इसके लिए वे या तो अपनी जेब से पैसा लगाते थे या यूरोपीय बैंकों से कर्ज़े लेते थे। उनके पास दूर-दूर तक पैसे पहुँचाने की एक व्यवस्थित पद्धति होती थी। यहाँ तक कि उन्होंने व्यावसायिक संगठनों और क्रियाकलापों के देशी स्वरूप भी विकसित कर लिए थे।

अफ़्रीका में यूरोपीय उपनिवेशकारों के पीछे-पीछे भारतीय व्यापारी और महाजन भी जा पहुँचे। हैदराबादी सिंधी व्यापारी तो यूरोपीय उपनिवेशों से भी आगे तक जा निकले। 1860 के दशक से उन्होंने दुनिया भर के बंदरगाहों पर अपने बड़े-बड़े एम्पोरियम खोल दिए। इन दुकानों में सैलानियों को आकर्षक स्थानीय और विदेशी चीज़ें मिलती थीं। यह एक फलता-फूलता कारोबार था क्योंकि सुरक्षित और आरामदेह जलपोतों के आ जाने से सैलानियों की संख्या भी दिनोंदिन बढ़ने लगी थी।

2.6 भारतीय व्यापार, उपनिवेशवाद और वैश्विक व्यवस्था

भारत में पैदा होने वाली महीन कपास का यूरोपीय देशों को निर्यात किया जाता था। औद्योगीकरण के बाद ब्रिटेन में भी कपास का उत्पादन बढ़ने लगा था। इसी कारण वहाँ के उद्योगपतियों ने सरकार पर दबाव डाला कि वह कपास के आयात पर रोक लगाए और स्थानीय उद्योगों की रक्षा करे। फलस्वरूप,

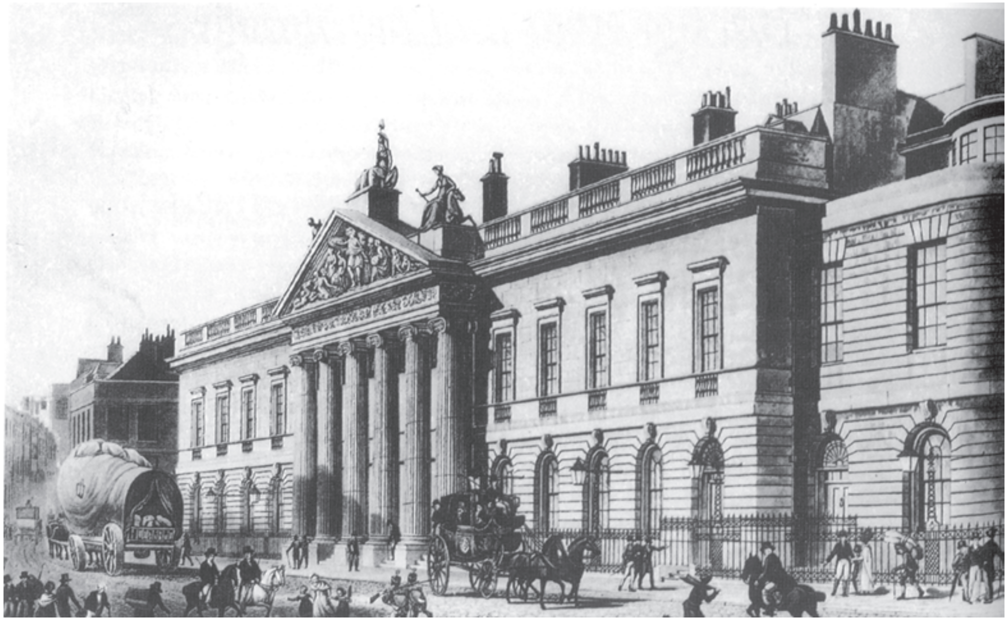

चित्र 17 – ईस्ट इंडिया कंपनी हाउस, लंदन।
ईस्ट इंडिया कंपनी के दुनिया भर में चलने वाले कार्यों का केंद्र यहीं था।

ब्रिटेन में आयातित कपड़ों पर सीमा शुल्क थोप दिए गए। वहाँ महीन भारतीय कपास का आयात कम होने लगा।

उन्नीसवीं शताब्दी की शुरुआत से ही ब्रिटिश कपड़ा उत्पादक दूसरे देशों में भी अपने कपड़े के लिए नए-नए बाज़ार ढूँढ़ने लगे थे। सीमा शुल्क की व्यवस्था के कारण ब्रिटिश बाज़ारों से बेदखल हो जाने के बाद भारतीय कपड़ों को दूसरे अंतर्राष्ट्रीय बाज़ारों में भी भारी प्रतिस्पर्धा का सामना करना पड़ा। यदि भारतीय निर्यात के आँकड़ों का अध्ययन करें तो पता चलता है कि सूती कपड़े के निर्यात में लगातार गिरावट का ही रुझान दिखाई देता है। सन् 1800 के आसपास निर्यात में सूती कपड़े का प्रतिशत 30 था जो 1815 में घट कर 15 प्रतिशत रह गया। 1870 तक तो यह अनुपात केवल 3 प्रतिशत रह गया था।

तो फिर भारत ने किन चीज़ों का निर्यात किया? आँकड़ों के माध्यम से फिर एक नाटकीय कहानी सामने आती है। निर्मित वस्तुओं का निर्यात घटता जा रहा था और उतनी ही तेज़ी से कच्चे मालों का निर्यात बढ़ता जा रहा था। 1812 से 1871 के बीच कच्चे कपास का निर्यात 5 प्रतिशत से बढ़ कर 35

चित्र 18 – सूरत और उसके साथ बहने वाली नदी का दूर से दिखने वाला दृश्य।
सत्रहवीं सदी के दौरान और अठारहवीं सदी के शुरुआती सालों में सूरत पश्चिमी भारत से होने वाले समुद्री व्यापार का मुख्य केंद्र रहा।

© NCERT not to be republished

प्रतिशत तक पहुँच गया था। कपड़ों की रँगाई के लिए इस्तेमाल होने वाले नील का भी कई दशक तक बड़े पैमाने पर निर्यात होता रहा। जैसा कि आपने पिछली कक्षा में पढ़ा ही था, 1820 के दशक से चीन को बड़ी मात्रा में अफ़ीम का निर्यात भी किया जाने लगा। कुछ समय तक तो भारतीय निर्यात में अफ़ीम का हिस्सा ही सबसे ज़्यादा रहा। ब्रिटेन की सरकार भारत में अफ़ीम की खेती करवाती थी और उसे चीन को निर्यात कर देती थी। अफ़ीम के निर्यात से जो पैसा मिलता था उसके बदले चीन से ही चाय और दूसरे पदार्थों का आयात किया जाता था।

उन्नीसवीं शताब्दी में भारतीय बाज़ारों में ब्रिटिश औद्योगिक उत्पादों की बाढ़ ही आ गई थी। भारत से ब्रिटेन और शेष विश्व को भेजे जाने वाले खाद्यान्न व कच्चे मालों के निर्यात में इज़ाफ़ा हुआ। ब्रिटेन से जो माल भारत भेजा जाता था उसकी कीमत भारत से ब्रिटेन भेजे जाने वाले माल की कीमत से बहुत ज़्यादा होती थी। भारत के साथ ब्रिटेन हमेशा 'व्यापार अधिशेष' की अवस्था में रहता था। इसका मतलब है कि आपसी व्यापार में हमेशा ब्रिटेन को ही फ़ायदा रहता था। ब्रिटेन इस मुनाफ़े के सहारे दूसरे देशों के साथ होने वाले व्यापारिक घाटे की भरपाई कर लेता था। बहुपक्षीय बंदोबस्त ऐसे ही काम करता है। इसमें एक देश के मुकाबले दूसरे देश को होने वाले घाटे की भरपाई किसी तीसरे देश के साथ व्यापार में मुनाफ़ा कमा कर की जाती है। ब्रिटेन के घाटे की भरपाई में मदद देते हुए भारत ने उन्नीसवीं सदी की विश्व अर्थव्यवस्था का रूप तय करने में एक अहम भूमिका अदा की थी।

ब्रिटेन के व्यापार से जो अधिशेष हासिल होता था उससे तथाकथित 'होम चार्जेज़' (देसी खर्चे) का निबटारा होता था। इसके तहत ब्रितानी अफ़सरों और व्यापारियों द्वारा अपने घर में भेजी गई निजी रकम, भारतीय बाहरी क़र्ज़े पर ब्याज और भारत में काम कर चुके ब्रितानी अफ़सरों की पेंशन शामिल थी।

© NCERT not to be republished

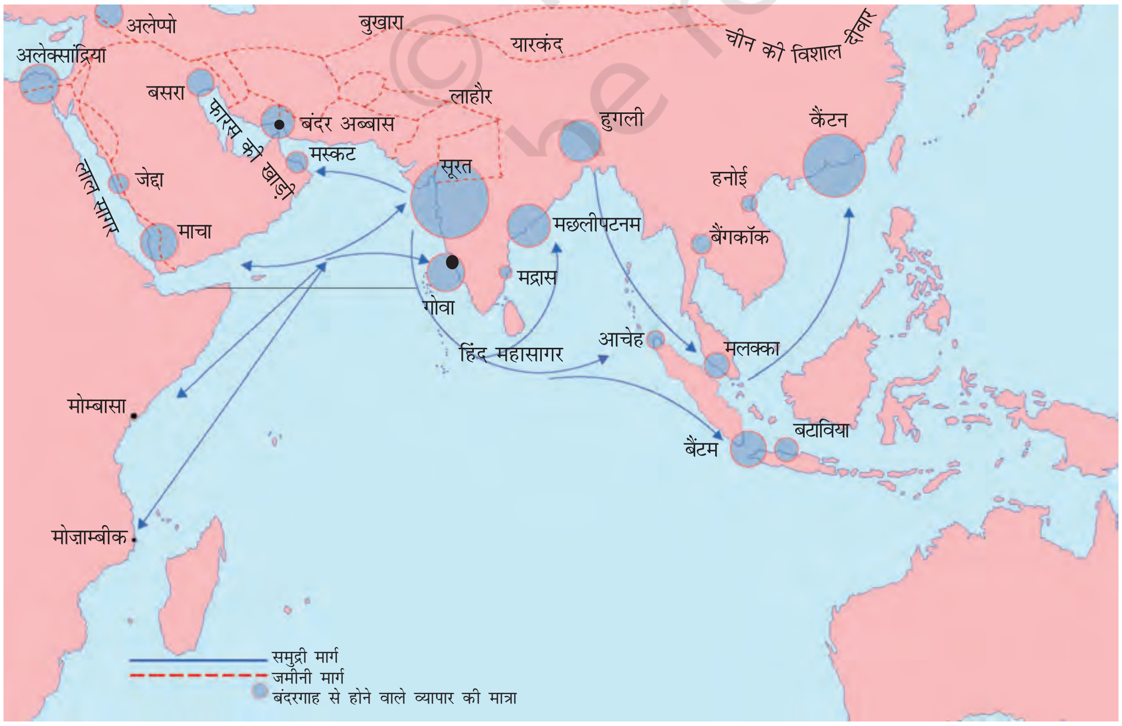

चित्र 19 – सत्रहवीं सदी के अंत में भारत को शेष विश्व से जोड़ने वाले व्यापारिक मार्ग।

3 महायुद्धों के बीच अर्थव्यवस्था

पहला महायुद्ध मुख्य रूप से यूरोप में ही लड़ा गया। लेकिन उसके असर सारी दुनिया में महसूस किए गए। इस अध्याय में हम जिन चीज़ों पर विचार कर रहे हैं उनकी दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण प्रभाव यह रहा है कि इस युद्ध ने विश्व अर्थव्यवस्था को एक ऐसे संकट में ढकेल दिया जिससे उबरने में दुनिया को तीन दशक से भी ज़्यादा समय लग गया। इस दौरान पुरी दुनिया में चौतरफ़ा आर्थिक एवं राजनीतिक अस्थिरता बनी रही और अंत में मानवता एक और विनाशकारी महायुद्ध के नीचे कराहने लगी।

3.1 युद्धकालीन रूपांतरण

जैसा कि आप जानते ही हैं, पहला विश्वयुद्ध दो खेमों के बीच लड़ा गया था। एक पाले में मित्र राष्ट्र यानी ब्रिटेन, फ़्रांस और रूस थे तो दूसरे पाले में केंद्रीय शक्तियाँ यानी जर्मनी, ऑस्ट्रिया-हंगरी और ऑटोमन तुर्की थे। अगस्त 1914 में जब युद्ध शुरू हुआ उस समय बहुत सारी सरकारों को यही लगता था कि यह युद्ध ज़्यादा से ज़्यादा क्रिसमस तक खत्म हो जाएगा। पर यह युद्ध तो चार साल से भी ज़्यादा समय तक चलता रहा।

मानव सभ्यता के इतिहास में ऐसा भीषण युद्ध पहले कभी नहीं हुआ था। इस युद्ध में दुनिया के सबसे अगुआ औद्योगिक राष्ट्र एक-दूसरे से जूझ रहे थे और शत्रुओं को नेस्तनाबूद करने के लिए उनके पास बेहिसाब आधुनिक औद्योगिक शक्ति इकट्ठा हो चुकी थी।

यह पहला आधुनिक औद्योगिक युद्ध था। इस युद्ध में मशीनगनों, टैंकों, हवाई जहाज़ों और रासायनिक हथियारों का भयानक पैमाने पर इस्तेमाल किया गया। ये सभी चीज़ें आधुनिक विशाल उद्योगों की देन थीं। युद्ध के लिए दुनिया भर से असंख्य सिपाहियों की भर्ती की जानी थी और उन्हें विशाल जलपोतों व रेलगाड़ियों में भर कर युद्ध के मोर्चों पर ले जाया जाना था। इस युद्ध ने मौत और विनाश की जैसी विभिषिका रची उसकी औद्योगिक युग से पहले और औद्योगिक शक्ति के बिना कल्पना नहीं की जा सकती थी। युद्ध में 90 लाख से ज़्यादा लोग मारे गए और 2 करोड़ घायल हुए।

चित्र 20 – प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान एक हथियार फ़ैक्ट्री में काम करते मज़दूर।
युद्ध की ज़रूरतों को पूरा करने के लिए हथियारों के उत्पादन में तेज़ी से इज़ाफ़ा हुआ।

मृतकों और घायलों में से ज़्यादातर कामकाजी उम्र के लोग थे। इस महाविनाश के कारण यूरोप में कामकाज के लायक लोगों की संख्या बहुत कम रह गई। परिवार के सदस्य घट जाने से युद्ध के बाद परिवारों की आय भी गिर गई।

युद्ध संबंधी सामग्री का उत्पादन करने के लिए उद्योगों का पुनर्गठन किया गया। युद्ध की ज़रूरतों के मद्देनजर पूरे के पूरे समाजों को बदल दिया गया। मर्द मोर्चे पर जाने लगे तो

उन कामों को सँभालने के लिए घर की औरतों को बाहर आना पड़ा जिन्हें अब तक केवल मर्दों का ही काम माना जाता था।

युद्ध के कारण दुनिया की कुछ सबसे शक्तिशाली आर्थिक ताक़तों के बीच आर्थिक संबंध टूट गए। अब वे देश एक-दूसरे से बदला लेने पर उतारू थे। इस युद्ध के लिए ब्रिटेन को अमेरिकी बैंकों और अमेरिकी जनता से भारी क़र्ज़ा लेना पड़ा। फलस्वरूप, इस युद्ध ने अमेरिका को क़र्ज़दार की बजाय कर्ज़दाता देश बना दिया। कहने का आशय यह है कि युद्ध के बाद दूसरे देशों में अमेरिका व उसके नागरिकों की संपत्तियों की कीमत अमेरिका में दूसरे देशों की सरकारों या उन नागरिकों के स्वामित्व अथवा नियंत्रण वाली संपदाओं से कहीं ज़्यादा हो चुकी थी।

3.2 युद्धोत्तर सुधार

युद्ध के बाद आर्थिक स्थिति को पटरी पर लाने का रास्ता काफ़ी मुश्किल साबित हुआ। युद्ध से पहले ब्रिटेन दुनिया की सबसे बड़ी अर्थव्यवस्था था। युद्ध के बाद सबसे लंबा संकट उसे ही झेलना पड़ा। जिस समय ब्रिटेन युद्ध से जूझ रहा था उसी समय भारत और जापान में उद्योग विकसित होने लगे थे। युद्ध के बाद भारतीय बाज़ार में पहले वाली वर्चस्वशाली स्थिति प्राप्त करना ब्रिटेन के लिए बहुत मुश्किल हो गया था। अब उसे जापान से भी मुक़ाबला करना था, सो अलग। युद्ध के खर्चे की भरपाई करने के लिए ब्रिटेन ने अमेरिका से जम कर क़र्ज़े लिए थे। इसका परिणाम यह हुआ कि युद्ध खत्म होने तक ब्रिटेन भारी विदेशी क़र्ज़ों में दब चुका था।

युद्ध के कारण आर्थिक उछाह का माहौल पैदा हो गया था क्योंकि माँग, उत्पादन और रोज़गारों में भारी इज़ाफ़ा हुआ था। पर जब युद्ध के कारण पैदा हुआ उछाह शांत होने लगा तो उत्पादन गिरने लगा और बेरोज़गारी बढ़ने लगी। दूसरी ओर सरकार ने भारी-भरकम युद्ध संबंधी व्यय में भी कटौती शुरू कर दी ताकि शांतिकालीन करों के सहारे ही उनकी भरपाई की जा सके। इन सारे प्रयासों से रोज़गार भारी तादाद में खत्म हुए। 1921 में हर पाँच में से एक ब्रिटिश मज़दूर के पास काम नहीं था। रोज़गार के बारे में बेचैनी और अनिश्चितता युद्धोत्तर वातावरण का अंग बन गई थी।

बहुत सारी कृषि आधारित अर्थव्यवस्थाएँ भी संकट में थीं। उदाहरण के लिए, गेहूँ उत्पादकों की हालत पर ही विचार कीजिए। युद्ध से पहले पूर्वी यूरोप विश्व बाज़ार में गेहूँ की आपूर्ति करने वाला एक बड़ा केंद्र था। युद्ध के दौरान यह आपूर्ति अस्त-व्यस्त हुई तो कनाडा, अमेरिका और ऑस्ट्रेलिया में गेहूँ की पैदावार अचानक बढ़ने लगी। लेकिन जैसे ही युद्ध समाप्त हुआ पूर्वी यूरोप में गेहूँ की पैदावार सुधरने लगी और विश्व बाजारों में गेहूँ की अति के हालात पैदा हो गए। अनाज की कीमतें गिर गईं, ग्रामीण आय कम हो गई और किसान गहरे क़र्ज़ संकट में फँस गए।

3.3 बड़े पैमाने पर उत्पादन और उपभोग

अमेरिका में सुधार की गति तेज़ रही। यह हम पहले ही देख चुके हैं कि युद्ध से अमेरिका की अर्थव्यवस्था को कितना फ़ायदा पहुँचा था। युद्ध के बाद

© NCERT not to be republished

कुछ समय के लिए तो अमेरिकी अर्थव्यवस्था को भी झटका लगा लेकिन बीस के दशक के शुरुआती सालों से ही अमेरिकी अर्थव्यवस्था तेज़ी से तरक्क़ी के रास्ते पर बढ़ने लगी।

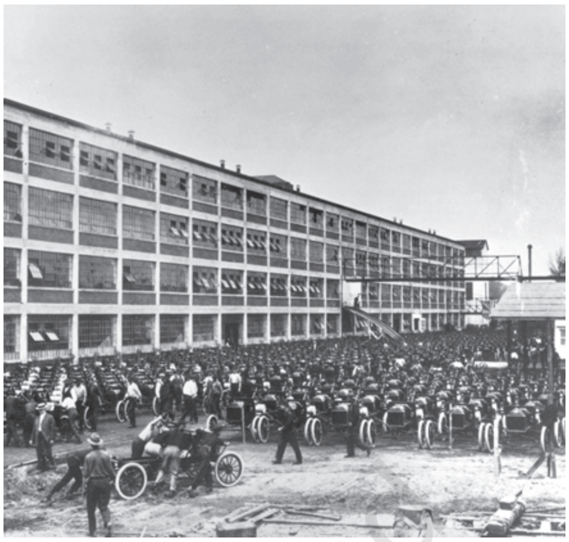

चित्र 21 – फैक्ट्री के बाहर कतार में खड़ी टी-मॉडल गाड़ियाँ।

1920 के दशक की अमेरिकी अर्थव्यवस्था की एक बड़ी खासियत थी बृहत उत्पादन (Mass Production) का चलन। बृहत उत्पादन की ओर बढ़ने का सिलसिला तो उन्नीसवीं सदी के आखिर में ही शुरू हो चुका था लेकिन 1920 के दशक में तो यह अमेरिकी औद्योगिक उत्पादन की विशेषता ही बन गया था। कार निर्माता हेनरी फ़ोर्ड बृहत उत्पादन के विख्यात प्रणेता थे। उन्होंने शिकागो के एक बूचड़खाने की असेंबली लाइन की तर्ज़ पर डेट्रॉयट के अपने कार कारखाने में भी आधुनिक असेंबली लाइन स्थापित की थी। शिकागो के बूचड़खाने में मरे हुए जानवरों को एक कन्वेयर बेल्ट पर रख दिया जाता था और उसके दूसरे सिरे पर खड़े मांस विक्रेता अपने हिस्से का मांस उठा कर निकलते जाते थे। यह देख कर फ़ोर्ड को लगा कि गाड़ियों के उत्पादन के लिए भी असेंबली लाइन का तरीका समय और पैसे, दोनों के लिहाज़ से किफायती साबित हो सकता है। असेंबली लाइन पर मजदूरों को एक ही काम – जैसे, कार के किसी खास पुर्ज़े को ही लगाते रहना – मशीनी ढंग से बार-बार करते रहना होता था। काम की रफ़्तार इस बात से तय होती थी कि कन्वेयर बेल्ट किस रफ़्तार से चलती है। यह काम की गति बढ़ाकर प्रत्येक मज़दूर की उत्पादकता बढ़ाने वाला तरीका था। कन्वेयर बेल्ट के साथ खड़े होने के बाद कोई मज़दूर अपने काम में ढील करने या कुछ पल के लिए भी अवकाश लेने का जोखिम नहीं उठा सकता था। और तो और, इस व्यवस्था में मज़दूर अपने साथियों के साथ बातचीत भी नहीं कर सकते थे। इसका नतीजा यह हुआ की हेनरी फोर्ड के कारखाने की असेंबली लाइन से हर तीन मिनट में एक कार तैयार होकर निकलने लगी। इससे पहले की पद्धतियों के मुकाबले यह रफ़्तार कई गुना ज़्यादा थी। टी–मॉडल नामक कार बृहत उत्पादन पद्धति से बनी पहली कार थी।

शुरुआत में फ़ोर्ड फ़ैक्ट्री के मजदूरों को असेंबली लाइन पर पैदा होने वाली थकान झेलने में काफ़ी मुश्किल महसूस हुई क्योंकि वे उसकी रफ़्तार को किसी भी तरह नियंत्रित नहीं कर सकते थे। बहुत सारे मज़दूरों ने काम छोड़ दिया। इस चुनौती से निपटने के लिए फ़ोर्ड ने हताश होकर जनवरी 1914 से वेतन दोगुना यानी 5 डॉलर प्रतिदिन कर दिया। साथ ही उन्होंने अपने कारखानों में ट्रेड यूनियन गतिविधियों पर भी पाबंदी लगा दी।

तनख़्वाह बढ़ाने से हेनरी फ़ोर्ड के मुनाफ़े में जो कमी आई थी उसकी भरपाई करने के लिए वे अपनी असेंबली लाइन की रफ़्तार बार-बार बढ़ाने लगे। उनके मज़दूरों पर काम का बोझ लगातार बढ़ता रहता था। अपने इस फ़ैसले से फ़ोर्ड बहुत संतुष्ट थे। कुछ समय बाद उन्होंने कहा था कि 'लागत कम करने के लिए' अपनी ज़िंदगी में उन्होंने इससे अच्छा फ़ैसला कभी नहीं लिया।

फ़ोर्ड द्वारा अपनाई गई उत्पादन पद्धतियों को जल्दी ही पूरे अमेरिका में अपनाया जाने लगा। बीस के दशक में ही यूरोप में भी उनकी नक़ल की जाने

लगी। बृहत उत्पादन पद्धति ने इंजीनियरिंग आधारित चीजों की लागत और कीमत में कमी ला दी। बेहतर वेतन के चलते अब बहुत सारे मज़दूर भी कार जैसी टिकाऊ उपभोक्ता वस्तुएँ खरीद सकते थे। 1919 में अमेरिका में 20 लाख कारों का उत्पादन होता था जो 1929 में बढ़कर 50 लाख कार प्रतिवर्ष से भी ऊपर जा पहुँचा। इसके साथ ही बहुत सारे लोग फ़्रिज, वॉशिंग मशीन, रेडियो, ग्रामोफ़ोन प्लेयर्स आदि भी खरीदने लगे। ये सब चीजें 'हायर-परचेज़' व्यवस्था के तहत खरीदी जाती थीं। यानी लोग ये सारी चीजें क़र्ज़े पर खरीदते थे और उनकी कीमत साप्ताहिक या मासिक किस्तों में चुकाई जाती थी। मकानों के निर्माण और निजी मकानों की संख्या में वृद्धि से भी फ़्रिज, वॉशिंग मशीन आदि उपकरणों की माँग में इज़ाफ़ा हुआ। उल्लेखनीय है कि घरों का निर्माण या खरीदारी भी क़र्ज़े पर ही की जा रही थी।

1920 के दशक में आवास एवं निर्माण क्षेत्र में आए उछाल से अमेरिकी संपन्नता का आधार पैदा हो चुका था। मकानों के निर्माण और घरेलू ज़रूरत की चीज़ों में निवेश से रोज़गार और माँग बढ़ती थी तो दूसरी और उपभोग भी बढ़ता था। बढ़ते उपभोग के लिए और ज़्यादा निवेश की जरूरत थी जिससे और नए रोज़गार व आमदनी में वृद्धि होने लगती थी।

1923 में अमेरिका शेष विश्व को पूँजी का निर्यात दोबारा करने लगा और वह दुनिया में सबसे बड़ा क़र्ज़दाता देश बन गया। अमेरिका द्वारा आयात और पूँजी निर्यात ने यूरोपीय अर्थव्यवस्थाओं को भी संकट से उबरने में मदद दी। अगले छह साल में विश्व व्यापार व आय वृद्धि दर में काफ़ी सुधार आया।

लेकिन यह स्थिति लंबे समय तक क़ायम नहीं रह पाई। 1929 तक आते-आते दुनिया एक ऐसे आर्थिक संकट में फँस गई जिसका दुनिया ने पहले कभी अनुभव नहीं किया था।

3.4 महामंदी

आर्थिक महामंदी की शुरुआत 1929 से हुई और यह संकट तीस के दशक के मध्य तक बना रहा। इस दौरान दुनिया के ज़्यादातर हिस्सों के उत्पादन, रोज़गार, आय और व्यापार में भयानक गिरावट दर्ज की गई। इस मंदी का समय और असर सब देशों में एक जैसा नहीं था लेकिन आमतौर पर ऐसा माना जा सकता है कि कृषि क्षेत्रों और समुदायों पर इसका सबसे बुरा असर पड़ा। ऐसा इसलिए हुआ था क्योंकि औद्योगिक उत्पादों की तुलना में खेतिहर उत्पादों की कीमतों में ज़्यादा भारी और ज़्यादा समय तक कमी बनी रही।

इस महामंदी के कई कारण थे। यह हम पहले ही देख चुके हैं कि युद्धोत्तर विश्व अर्थव्यवस्था कितनी कमज़ोर थी। पहला कारण यह था कि कृषि क्षेत्र में अति उत्पादन की समस्या बनी हुई थी। कृषि उत्पादों की गिरती कीमतों के कारण स्थिति और खराब हो गई थी। कीमतें गिरीं और किसानों की आय घटने लगी तो आमदनी बढ़ाने के लिए किसान उत्पादन बढ़ाने का प्रयास करने लगे ताकि कम कीमत पर ही सही लेकिन ज़्यादा माल पैदा करके वे अपना आय स्तर बनाए रख सकें।

बॉक्स 3

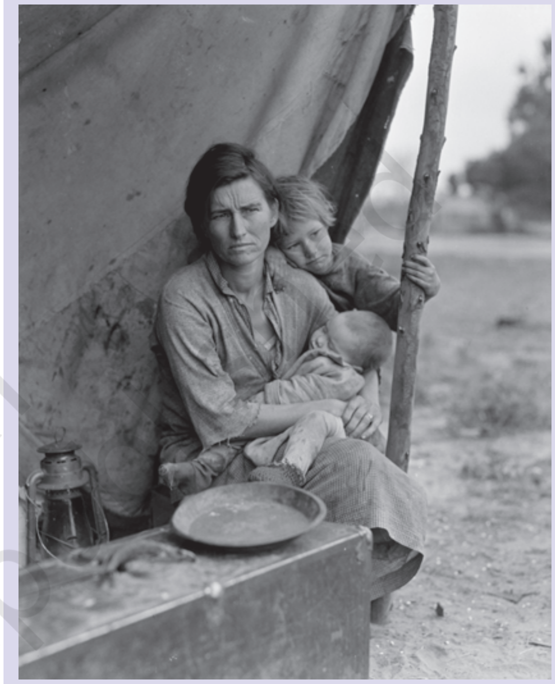

चित्र 22 – महामंदी के दौरान एक आप्रवासी खेत मज़दूर का बेघर और भूखा परिवार, 1936
सौजन्य : लायब्रेरी ऑफ़ कांग्रेस प्रिंट्स एंड फ़ोटोग्राफ़्स डिविजन।

यह चित्र लेने वाली डॉरोथी लेंग ने इस भूखी माँ के साथ अपनी मुलाकात के क्षणों को याद करते हुए बहुत साल बाद कहा था –

'मैंने इस भूखी, लाचार औरत को देखा और मानो किसी चुंबक से खिंची मैं उसकी ओर बढ़ती चली गई...। मैंने न तो उसका नाम पूछा न उसके अतीत के बारे में सवाल किए। उसने मुझे अपनी उम्र बताई। उसने कहा कि उसकी उम्र पैंतीस साल है। उसने कहा कि वे लोग (यानी माँ और उसके सात बच्चे) आसपास के खेतों में जाड़ों से जमी पड़ी सब्ज़ियों और उन परिंदों के सहारे ज़िंदा हैं जिन्हें उसके बच्चे मार लाते हैं...। वो वहाँ बैठी थी... अपने बच्चों को चिपटाए, शायद उसे लगता था कि मेरी तसवीर उसकी कोई मदद कर सकती है इसलिए उसने मेरी मदद कर दी...।'

स्रोत : *पॉपुलर फ़ोटोग्राफ़ी,* फ़रवरी 1960

फलस्वरूप, बाज़ार में कृषि उत्पादों की आमद और भी बढ़ गई। जाहिर है, कीमतें और नीचे चली गईं। खरीदारों के अभाव में कृषि उपज पड़ी-पड़ी सड़ने लगी।

दूसरा कारण : 1920 के दशक के मध्य में बहुत सारे देशों ने अमेरिका से क़र्ज़े लेकर अपनी निवेश संबंधी ज़रूरतों को पूरा किया था। जब हालात अच्छे थे तो अमेरिका से क़र्ज़ा जुटाना बहुत आसान था लेकिन संकट का संकेत मिलते ही अमेरिकी उद्यमियों के होश उड़ गए। 1928 के पहले छह माह तक विदेशों में अमेरिका का क़र्ज़ा एक अरब डॉलर था। साल भर के भीतर यह कर्ज़ा घटकर केवल चौथाई रह गया था। जो देश अमेरिकी क़र्ज़े पर सबसे ज़्यादा निर्भर थे उनके सामने गहरा संकट आ खड़ा हुआ।

भले ही सब देशों में एक जैसा प्रभाव न पड़ा हो लेकिन अमेरिकी पूँजी के लौट जाने से पूरी दुनिया पर असर ज़रूर पड़ा। यूरोप में कई बड़े बैंक धराशायी हो गए। कई देशों की मुद्रा की कीमत बुरी तरह गिर गई। इस झटके से ब्रिटिश पाउंड भी नहीं बच पाया। लैटिन अमेरिका और अन्य स्थानों पर कृषि एवं कच्चे मालों की क़ीमतें तेज़ी से लुढ़कने लगीं। अमेरिकी सरकार इस महामंदी से अपनी अर्थव्यवस्था को बचाने के लिए आयातित पदार्थों पर दो गुना सीमा शुल्क वसूल करने लगी। इस फ़ैसले ने तो विश्व व्यापार की कमर ही तोड़ दी।

औद्योगिक देशों में भी मंदी का सबसे बुरा असर अमेरिका को ही झेलना पड़ा। कीमतों में कमी और मंदी की आशंका को देखते हुए अमेरिकी बैंकों ने घरेलू क़र्ज़े देना बंद कर दिया। जो कर्ज़े दिए जा चुके थे उनकी वसूली तेज़ कर दी गई। किसान उपज नहीं बेच पा रहे थे, परिवार तबाह हो गए, कारोबार ठप पड़ गए। आमदनी में गिरावट आने पर अमेरिका के बहुत सारे परिवार कर्ज़े चुकाने में नाकामयाब हो गए जिसके चलते उनके मकान, कार और सारी ज़रूरी चीजें कुर्क कर ली गईं। बीस के दशक में जो उपभोक्तावादी संपन्नता दिखाई दे रही थी वह धूल के गुबार की तरह रातोंरात काफ़ूर हो गई थी। बेरोज़गारी बढ़ी तो लोग काम की तलाश में दूर-दूर तक जाने लगे। आखिरकार अमेरिकी बैंकिंग व्यवस्था भी धराशायी हो गई। निवेश से अपेक्षित लाभ न पा सकने, कर्ज़े वसूल न कर पाने और जमाकर्ताओं की जमा पूँजी न लौटा पाने के कारण हज़ारों बैंक दिवालिया हो गए और बंद कर दिए गए। इस परिघटना से जुड़े आँकड़े सकते में डाल देने वाले हैं : 1933 तक 4,000 से ज़्यादा बैंक बंद हो चुके थे और 1929 से 1932 के बीच तकरीबन 1,10,000 कंपनियाँ चौपट हो चुकी थीं।

यद्यपि 1935 तक ज़्यादातर औद्योगिक देशों में आर्थिक संकट से उबरने के संकेत दिखाई देने लगे थे लेकिन समाजों, अंतर्राष्ट्रीय संबंधों और राजनीति तथा लोगों के दिलो-दिमाग़ पर उसकी जो छाप पड़ी वह जल्दी मिटने वाली नहीं थी।

चित्र 23 – बेरोज़गारी लाभ के लिए क़तार में खड़े लोग, अमेरिका। डॉरोथी लेंग द्वारा लिया गया चित्र, 1938
सौजन्य : लायब्रेरी ऑफ़ कांग्रेस प्रिंट्स एंड फ़ोटोग्राफ़्स डिविजन। जब एक बेरोजगारी जनगणना से पता चला कि देश में एक करोड़ से ज़्यादा लोगों के पास कोई काम नहीं है तो अमेरिका के बहुत सारे राज्यों में स्थानीय प्रशासन की ओर से बेरोज़गारों को छोटे-छोटे भत्ते दिए जाने लगे। ये लंबी क़तारें महामंदी के सालों में गरीबी और बेरोज़गारी का प्रतीक थीं।

3.5 भारत और महामंदी

यदि हम इस बात पर ध्यान दें कि महामंदी से भारत पर क्या असर पड़ा तो इस बात को अच्छी तरह समझ सकते हैं कि बीसवीं सदी की शुरुआत तक वैश्विक अर्थव्यवस्था कितनी एकीकृत हो चुकी थी। दुनिया के एक हिस्से में पैदा होने वाले संकट की कँपकँपाहट बाकी हिस्सों तक भी पहुँच जाती

2019-20

थी और उससे दुनिया भर में लोगों की ज़िंदगी, अर्थव्यवस्थाएँ और समाज प्रभावित हो उठते थे।

जैसा कि आप पीछे देख चुके हैं, औपनिवेशिक भारत कृषि वस्तुओं का निर्यातक और तैयार मालों का आयातक बन चुका था। महामंदी ने भारतीय व्यापार को फ़ौरन प्रभावित किया। 1928 से 1934 के बीच देश के आयात-निर्यात घट कर लगभग आधे रह गए थे। जब अंतर्राष्ट्रीय बाज़ार में कीमतें गिरने लगीं तो यहाँ भी कीमतें नीचे आ गईं। 1928 से 1934 के बीच भारत में गेहूँ की कीमत 50 प्रतिशत गिर गई।

शहरी निवासियों के मुक़ाबले किसानों और काश्तकारों को ज़्यादा नुक़सान हुआ। यद्यपि कृषि उत्पादों की कीमत तेज़ी से नीचे गिरी लेकिन सरकार ने लगान वसूली में छूट देने से साफ़ इनकार कर दिया। सबसे बुरी मार उन काश्तकारों पर पड़ी जो विश्व बाज़ार के लिए उपज पैदा करते थे।

बंगाल के जूट/पटसन उत्पादकों को ही देखिए। वे कच्चा पटसन उगाते थे जिससे कारखानों में टाट की बोरियाँ बनाई जाती थीं। जब टाट का निर्यात बंद हो गया तो कच्चे पटसन की कीमतों में 60 प्रतिशत से भी ज़्यादा गिरावट आ गई। जिन काश्तकारों ने दिन फिरने की उम्मीद में या बेहतर आमदनी के लिए उपज बढ़ाने के वास्ते क़र्ज़े ले लिए थे उनकी हालत भी उपज का सही मोल न मिलने के कारण खराब थी। वे दिनोंदिन और क़र्ज़ में डूबते जा रहे थे। इसी विपत्ति को ध्यान में रखकर बंगाल के एक कवि ने लिखा था –

> चलो भाइयों, नक़द की उम्मीद में और ज़्यादा पटसन तुम उगाओ
> लागत और क़र्ज़े में पिसकर नाउम्मीदी पाओ
> सारी पूँजी लगा-फँसाकर फ़सल खड़ी कर जाओ
> ...घर पर बैठे बनिये देंगे पाँच रुपये मन भाव

पूरे देश में काश्तकार पहले से भी ज़्यादा क़र्ज़ में डूब गए। खर्चे पूरे करने के चक्कर में उनकी बचत खत्म हो चुकी थी, ज़मीन सूदखोरों के पास गिरवी पड़ी थी, घर में जो भी गहने-ज़ेवर थे बिक चुके थे। मंदी के इन्हीं सालों में भारत कीमती धातुओं, खासतौर से सोने का निर्यात करने लगा। प्रसिद्ध अर्थशास्त्री कीन्स का मानना था कि भारतीय सोने के निर्यात से भी वैश्विक अर्थव्यवस्था को पुनर्जीवित करने में काफ़ी मदद मिली। इस निर्यात ने ब्रिटेन की आर्थिक दशा सुधारने में तो निश्चय ही मदद दी लेकिन भारतीय किसानों को कोई लाभ नहीं हुआ। 1931 में मंदी अपने चरम पर थी और ग्रामीण भारत असंतोष व उथल-पुथल के दौर से गुजर रहा था। उसी समस महात्मा गांधी ने सविनय अवज्ञा (सिविल नाफ़रमानी) आंदोलन शुरू किया।

यह मंदी शहरी भारत के लिए इतनी दुखदाई नहीं रही। कीमतें गिरते जाने के बावजूद शहरों में रहने वाले ऐसे लोगों की हालत ठीक रही जिनकी आय निश्चित थी। जैसे, शहर में रहने वाले ज़मींदार जिन्हें अपनी ज़मीन पर बँधा-बँधाया भाड़ा मिलता था, या मध्यवर्गीय वेतनभोगी कर्मचारी। राष्ट्रवादी खेमे के दबाव में उद्योगों की रक्षा के लिए सीमा शुल्क बढ़ा दिए गए थे जिससे औद्योगिक क्षेत्र में भी निवेश में तेज़ी आई।

चर्चा करें

पटसन (जूट) उगाने वालों के विलाप में पटसन की खेती से किसके मुनाफ़े का ज़िक्र आया है? स्पष्ट करें।

© NCERT not to be republished

4 विश्व अर्थव्यवस्था का पुनर्निर्माण : युद्धोत्तर काल

पहला विश्व युद्ध खत्म होने के केवल दो दशक बाद दूसरा विश्व युद्ध शुरू हो गया। यह युद्ध भी दो बड़े खेमों के बीच था। एक गुट में धुरी शक्तियाँ (मुख्य रूप से नात्सी जर्मनी, जापान और इटली) थीं तो दूसरा खेमा मित्र राष्ट्रों (ब्रिटेन, सोवियत संघ, फ्रांस और अमेरिका) के नाम से जाना जाता था। छह साल तक चला यह युद्ध ज़मीन, हवा और पानी में असंख्य मोर्चों पर लड़ा गया।

चित्र 24 – रूस पर हमला करती जर्मन टुकड़ियाँ, जुलाई 1941 रूस पर हिटलर का हमला युद्ध में एक निर्णायक महत्त्व की घटना थी।

इस युद्ध में मौत और तबाही की कोई हद बाकी नहीं बची थी। माना जाता है कि इस जंग के कारण प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से करीब 6 करोड़ लोग मारे गए। यह 1939 की वैश्विक जनसंख्या का लगभग 3 प्रतिशत था। करोड़ों लोग घायल हुए।

अब तक के युद्धों में मोर्चे पर मरने वालों की संख्या ज़्यादा होती थी। इस युद्ध में ऐसे लोग ज़्यादा मरे जो किसी मोर्चे पर लड़ नहीं रहे थे। यूरोप और एशिया के विशाल भूभाग तबाह हुए। कई शहर हवाई बमबारी या लगातार गोलाबारी के कारण मिट्टी में मिल गए। इस युद्ध ने बेहिसाब आर्थिक और सामाजिक तबाही को जन्म दिया। ऐसे हालात में पुनर्निर्माण का काम कठिन और लंबा साबित होने वाला था।

युद्धोत्तर काल में पुनर्निर्माण का काम दो बड़े प्रभावों के साये में आगे बढ़ा। पश्चिमी विश्व में अमेरिका आर्थिक, राजनीतिक और सैनिक दृष्टि से एक वर्चस्वशाली ताकत बन चुका था। दूसरी ओर सोवियत संघ भी एक वर्चस्वशाली शक्ति के रूप में सामने आया। नात्सी जर्मनी को हराने के लिए सोवियत संघ की जनता ने भारी कुर्बानियाँ दी थीं। जिस समय पूँजीवादी दुनिया महामंदी से जूझ रही थी उसी दौरान सोवियत संघ के लोगों ने अपने देश को एक पिछड़े खेतिहर देश की जगह एक विश्व शक्ति की हैसियत में ला खड़ा किया था।

चित्र 25 – सोवियत रूस में युद्ध से तबाह स्तालिनग्राद।

4.1 युद्धोत्तर बंदोबस्त और ब्रेटन-वुड्स संस्थान

दो महायुद्धों के बीच मिले आर्थिक अनुभवों से अर्थशास्त्रियों और राजनीतिज्ञों ने दो अहम सबक़ निकाले। पहला, बृहत उत्पादन पर आधारित किसी औद्योगिक समाज को व्यापक उपभोग के बिना क़ायम नहीं रखा जा सकता। लेकिन व्यापक उपभोग को बनाए रखने के लिए यह आवश्यक था कि आमदनी काफ़ी ज़्यादा और स्थिर हो। यदि रोज़गार अस्थिर होंगे तो आय स्थिर नहीं हो सकती थी। स्थिर आय के लिए पूर्ण रोज़गार भी ज़रूरी था।

लेकिन बाज़ार पूर्ण रोज़गार की गारंटी नहीं दे सकता। कीमत, उपज और रोज़गार में आने वाले उतार-चढ़ावों को नियंत्रित करने के लिए सरकार का

दखल ज़रूरी था। आर्थिक स्थिरता केवल सरकारी हस्तक्षेप के ज़रिये ही सुनिश्चित की जा सकती थी।

दूसरा सबक़ बाहरी दुनिया के साथ आर्थिक संबंधों के बारे में था। पूर्ण रोज़गार का लक्ष्य केवल तभी हासिल किया जा सकता है जब सरकार के पास वस्तुओं, पूँजी और श्रम की आवाजाही को नियंत्रित करने की ताक़त उपलब्ध हो।

संक्षेप में, युद्धोत्तर अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था का मुख्य उद्देश्य यह था कि औद्योगिक विश्व में आर्थिक स्थिरता एवं पूर्ण रोज़गार बनाए रखा जाए। इस फ़्रेमवर्क पर जुलाई 1944 में अमेरिका स्थित न्यू हैम्पशर के ब्रेटन वुड्स नामक स्थान पर संयुक्त राष्ट्र मौद्रिक एवं वित्तीय सम्मेलन में सहमति बनी थी।

चित्र 26 – ब्रेटन वुड्स, अमेरिका स्थित माउंट वाशिंगटन होटल। यही वह स्थान है जहाँ ब्रेटन वुड्स का ऐतिहासिक सम्मेलन आयोजित किया गया था।

सदस्य देशों के विदेश व्यापार में लाभ और घाटे से निपटने के लिए ब्रेटन वुड्स सम्मेलन में ही अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (आई.एम.एफ़.) की स्थापना की गई। युद्धोत्तर पुनर्निर्माण के लिए पैसे का इंतज़ाम करने के वास्ते अंतर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण एवं विकास बैंक (जिसे आम बोलचाल में विश्व बैंक कहा जाता है) का गठन किया गया। इसी वजह से विश्व बैंक और आई.एम.एफ़. को ब्रेटन वुड्स संस्थान या ब्रेटन वुड्स ट्विन (ब्रेटन वुड्स की जुड़वाँ संतान) भी कहा जाता है। इसी आधार पर युद्धोत्तर अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था को अकसर ब्रेटन वुड्स व्यवस्था भी कहा जाता है।

विश्व बैंक और आई.एम.एफ़. ने 1947 में औपचारिक रूप से काम करना शुरू किया। इन संस्थानों की निर्णय प्रक्रिया पर पश्चिमी औद्योगिक देशों का नियंत्रण रहता है। अमेरिका विश्व बैंक और आई.एम.एफ़. के किसी भी फ़ैसले को **वीटो** कर सकता है।

नए शब्द

वीटो : निषेधाधिकार; इस अधिकार के सहारे एक ही सदस्य की असहमति किसी भी प्रस्ताव को खारिज करने का आधार बन जाती है।

अंतर्राष्ट्रीय मौद्रिक व्यवस्था राष्ट्रीय मुद्राओं और मौद्रिक व्यवस्थाओं को एक–दूसरे से जोड़ने वाली व्यवस्था है। ब्रेटन वुड्स व्यवस्था निश्चित विनिमय दरों पर आधरित होती थी। इस व्यवस्था में राष्ट्रीय मुद्राएँ, जैसे भारतीय मुद्रा– रुपया–डॉलर के साथ एक निश्चित विनिमय दर से बँधा हुआ था। एक डॉलर के बदले में कितने रुपये देने होंगे, यह स्थिर रहता था। डॉलर का मूल्य भी सोने से बँधा हुआ था। एक डॉलर की कीमत 35 औंस सोने के बराबर निर्धारित की गई थी।

4.2 प्रारंभिक युद्धोत्तर वर्ष

ब्रेटन वुड्स व्यवस्था ने पश्चिमी औद्योगिक राष्ट्रों और जापान के लिए व्यापार तथा आय में वृद्धि के एक अप्रतिम युग का सूत्रपात किया। 1950 से 1970 के बीच विश्व व्यापार की विकास दर सालाना 8 प्रतिशत से भी ज़्यादा रही। इस दौरान वैश्विक आय में लगभग 5 प्रतिशत की दर से वृद्धि हो रही थी। विकास दर भी कमोबेश स्थिर ही थी। उसमें ज़्यादा उतार–चढ़ाव नहीं आए। इस दौरान ज़्यादातर समय अधिकांश औद्योगिक देशों में बेरोज़गारी औसतन 5 प्रतिशत से भी कम ही रही। इन दशकों में तकनीक और उद्यम का विश्वव्यापी प्रसार हुआ। विकासशील देश विकसित औद्योगिक देशों के बराबर पहुँचने की जीतोड़

चर्चा करें

संक्षेप में बताएँ कि दो महायुद्धों के बीच जो आर्थिक परिस्थितियाँ पैदा हुए उनसे अर्थशास्त्रियों और राजनेताओं ने क्या सबक सीखे?

© NCERT not to be republished

कोशिश कर रहे थे। इसीलिए उन्होंने आधुनिक तकनीक से चलने वाले संयंत्रों और उपकरणों के आयात पर बेहिसाब पूँजी का निवेश किया।

4.3 अनौपनिवेशीकरण और स्वतंत्रता

दूसरा विश्व युद्ध खत्म होने के बाद भी दुनिया का एक बहुत बड़ा भाग यूरोपीय औपनिवेशिक शासन के अधीन था। अगले दो दशकों में एशिया और अफ़्रीका के ज़्यादातर उपनिवेश स्वतंत्र, स्वाधीन राष्ट्र बन चुके थे। लेकिन ये सभी देश ग़रीबी व संसाधनों की कमी से जूझ रहे थे। उनकी अर्थव्यवस्थाएँ और समाज लंबे समय तक चले औपनिवेशिक शासन के कारण अस्त-व्यस्त हो चुके थे।

आई.एम.एफ. और विश्व बैंक का गठन तो औद्योगिक देशों की ज़रूरतों को पूरा करने के लिए ही किया गया था। ये संस्थान भूतपूर्व उपनिवेशों में गरीबी की समस्या और विकास की कमी से निपटने में दक्ष नहीं थे। लेकिन जिस प्रकार यूरोप और जापान ने अपनी अर्थव्यवस्थाओं का पुनर्गठन किया था उसके कारण ये देश आई.एम.एफ. और विश्व बैंक पर बहुत निर्भर भी नहीं थे। इसी कारण पचास के दशक के आखिरी सालों में आकर ब्रेटन वुड्स संस्थान विकासशील देशों पर भी पहले से ज़्यादा ध्यान देने लगे।

दुनिया के अल्पविकसित भाग उपनिवेशों के रूप में पश्चिमी साम्राज्यों के अधीन रहे थे। विडंबना यह थी कि नवस्वाधीन राष्ट्रों के रूप में भी अपनी जनता को गरीबी और पिछड़ेपन की गर्त से बाहर निकालने के लिए उन्हें ऐसे अंतर्राष्ट्रीय संस्थानों की मदद लेनी पड़ी जिन पर भूतपूर्व औपनिवेशिक शक्तियों का ही वर्चस्व था।

अनौपनिवेशीकरण के बहुत साल बीत जाने के बाद भी बहुत सारे नवस्वाधीन राष्ट्रों की अर्थव्यवस्थाओं पर भूतपूर्व औपनिवेशिक शक्तियों का ही नियंत्रण बना हुआ था। जो देश ब्रिटेन और फ़्रांस के उपनिवेश रह चुके थे या जहाँ कभी उनका राजनीतिक प्रभुत्व रह चुका वहाँ के महत्त्वपूर्ण संसाधनों, जैसे खनिज संपदा और ज़मीन पर अभी भी ब्रिटिश और फ़्रांसीसी कंपनियों का ही नियंत्रण था और वे इस नियंत्रण को छोड़ने के लिए किसी भी कीमत पर तैयार नहीं थीं।

कई बार अमेरिका जैसे अन्य शक्तिशाली देशों की बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ भी विकासशील देशों के प्राकृतिक संसाधनों का बहुत कम कीमत पर दोहन करने लगती थीं।

दूसरी ओर ज़्यादातर विकासशील देशों को पचास और साठ के दशक में पश्चिमी अर्थव्यवस्थाओं की तेज प्रगति से कोई लाभ नहीं हुआ। इस समस्या को देखते हुए उन्होंने एक नयी अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक प्रणाली (New International Economic Order–NIEO) के लिए आवाज़ उठाई और समूह 77 (जी-77) के रूप में संगठित हो गए। एन.आई.ई.ओ. से उनका आशय एक ऐसी व्यवस्था से था जिसमें उन्हें अपने संसाधनों पर सही मायनों में नियंत्रण मिल सके, जिसमें उन्हें विकास के लिए अधिक सहायता मिले, कच्चे माल के सही दाम मिलें, और अपने तैयार मालों को विकसित देशों के बाज़ारों में बेचने के लिए बेहतर पहुँच मिले।

बॉक्स 4

एक साथ बहुत सारे देशों में व्यवसाय करने वाली कंपनियों को बहुराष्ट्रीय निगम (मल्टीनेशनल कॉर्पोरेशन-एमएनसी) या बहुराष्ट्रीय कंपनी कहा जाता है। शुरुआती बहुराष्ट्रीय कंपनियों की स्थापना 1920 के दशक में की गई थी। पचास व साठ के दशक में जब अमेरिकी व्यवसाय दुनिया भर में फैलते जा रहे थे और पश्चिमी यूरोप एवं जापान भी विश्वयुद्ध के प्रभाव से बाहर निकलते हुए शक्तिशाली औद्योगिक राष्ट्र बनने की ओर अग्रसर थे उस समय ऐसी बहुत सारी नयी कंपनियाँ सामने आईं। बहुराष्ट्रीय कंपनियों का विश्वव्यापी प्रसार पचास और साठ के दशक की एक विशेषता था। इसके पीछे आंशिक रूप से इस बात का भी हाथ था कि ज़्यादातर सरकारें बाहर से आने वाली चीजों पर भारी **आयात शुल्क** वसूल करती थीं जिसके कारण बड़ी कंपनियों को अपने संयंत्र उन्हीं देशों में लगाने पड़ते थे जहाँ वे अपने उत्पाद बेचना चाहती थीं। उन्हें 'घरेलू उत्पादकों' के रूप में काम करना पड़ता था।

नए शब्द

आयात शुल्क (Tariff) : किसी दूसरे देश से आने वाली चीज़ों पर वसूल किया जाने वाला शुल्क। यह कर या शुल्क उस जगह लिया जाता है जहाँ से वह चीज देश में आती है, यानी सीमा पर, बंदरगाह पर या हवाई अड्डे पर।

2019-20

© NCERT not to be republished

4.4 ब्रेटन वुड्स का समापन और 'वैश्वीकरण' की शुरुआत

सालों की स्थिर और तेज़ वृद्धि के बावजूद युद्धोत्तर दुनिया में सब कुछ सही नहीं चल रहा था। साठ के दशक से ही विदेशों में अपनी गतिविधियों की भारी लागत ने अमेरिका की वित्तीय और प्रतिस्पर्धी क्षमता को कमज़ोर कर दिया था। अमेरिकी डॉलर अब दुनिया की प्रधान मुद्रा के रूप में पहले जितना सम्मानित और निर्विवाद नहीं रह गया था। सोने की तुलना में डॉलर की कीमत गिरने लगी थी। अंततः स्थिर **विनिमय दर** की व्यवस्था विफल हो गई और प्रवाहमयी या अस्थिर विनिमय दर की व्यवस्था शुरू की गई।

सत्तर के दशक के मध्य से अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थानों में भी भारी बदलाव आ चुके थे। अब तक विकासशील देश क़र्ज़े और विकास संबंधी सहायता के लिए अंतर्राष्ट्रीय संस्थानों की शरण ले सकते थे लेकिन अब उन्हें पश्चिम के व्यावसायिक बैंकों और निजी ऋणदाता संस्थानों से क़र्ज़ न लेने के लिए बाध्य किया जाने लगा। विकासशील विश्व में समय-समय पर क़र्ज़ संकट पैदा होने लगा जिसके कारण आय में गिरावट आती थी और गरीबी बढ़ने लगती थी। अफ़्रीका और लैटिन अमेरिका में यह समस्या सबसे ज़्यादा दिखाई दी।

औद्योगिक विश्व भी बेरोज़गारी की समस्या में फँसने लगा था। सत्तर के दशक के मध्य से बेरोज़गारी बढ़ने लगी। नब्बे के दशक के प्रारंभिक वर्षों तक वहाँ काफी बेरोज़गारी रही। सत्तर के दशक के आखिर सालों से बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ भी एशिया के ऐसे देशों में उत्पादन केंद्रित करने लगीं जहाँ वेतन कम थे।

चीन 1949 की क्रांति के बाद विश्व अर्थव्यवस्था से अलग-थलग ही था। परंतु चीन में नयी आर्थिक नीतियों और सोवियत खेमे के बिखराव तथा पूर्वी यूरोप में सोवियत शैली की व्यवस्था समाप्त हो जाने के पश्चात बहुत सारे देश दोबारा विश्व अर्थव्यवस्था का अंग बन गए।

चीन जैसे देशों में वेतन तुलनात्मक रूप से कम थे। फलस्वरूप विश्व बाज़ारों पर अपना प्रभुत्व क़ायम करने के लिए प्रतिस्पर्धा कर रही विदेशी बहुराष्ट्रीय कंपनियों ने वहाँ जमकर निवेश करना शुरू कर दिया। क्या आपने इस बात पर ध्यान दिया है कि हमारे ज़्यादातर टेलीविज़न, मोबाइल फ़ोन और खिलौने चीन में बने होते हैं या वहाँ के जैसे ही लगते हैं? यह चीनी अर्थव्यवस्था की अल्प लागत अर्थव्यवस्था और खास तौर से वहाँ के कम वेतनों का नतीजा है।

उद्योगों को कम वेतन वाले देशों में ले जाने से वैश्विक व्यापार और पूँजी प्रवाहों पर भी असर पड़ा। पिछले दो दशक में भारत, चीन और ब्राज़ील आदि देशों की अर्थव्यवस्थाओं में आए भारी बदलावों के कारण दुनिया का आर्थिक भूगोल पूरी तरह बदल चुका है।

नए शब्द

विनिमय दर : इस व्यवस्था के जरिये अंतर्राष्ट्रीय व्यापार की सुविधा के लिए विभिन्न देशों की राष्ट्रीय मुद्राओं को एक-दूसरे से जोड़ा जाता है। मोटे तौर पर विनिमय दर दो प्रकार की होती हैं : **स्थिर विनिमय दर** और **परिवर्तनशील विनिमय दर**।

स्थिर विनिमय दर : जब विनिमय दर स्थिर होती हैं और उनमें आने वाले उतार-चढ़ावों को नियंत्रित करने के लिए सरकारों को हस्तक्षेप करना पड़ता है तो ऐसी विनिमय दर को स्थिर विनिमय दर कहा जाता है।

लचीली या परिवर्तनशील विनिमय दर : इस तरह की विनिमय दर विदेशी मुद्रा बाज़ार में विभिन्न मुद्राओं की माँग या आपूर्ति के आधार पर और सिद्धांततः सरकारों के हस्तक्षेप के बिना घटती-बढ़ती रहती है।

संक्षेप में लिखें

1. सत्रहवीं सदी से पहले होने वाले आदान-प्रदान के दो उदाहरण दीजिए। एक उदाहरण एशिया से और एक उदाहरण अमेरिका महाद्वीपों के बारे में चुने।
2. बताएँ कि पूर्व-आधुनिक विश्व में बीमारियों के वैश्विक प्रसार ने अमेरिकी भूभागों के उपनिवेशीकरण में किस प्रकार मदद दी।
3. निम्नलिखित के प्रभावों की व्याख्या करते हुए संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखें:

   (क) कॉर्न लॉ के समाप्त करने के बारे में ब्रिटिश सरकार का फ़ैसला।

   (ख) अफ़्रीका में रिंडरपेस्ट का आना।

   (ग) विश्वयुद्ध के कारण यूरोप में कामकाजी उम्र के पुरुषों की मौत।

   (घ) भारतीय अर्थव्यवस्था पर महामंदी का प्रभाव।

   (ङ) बहुराष्ट्रीय कंपनियों द्वारा अपने उत्पादन को एशियाई देशों में स्थानांतरित करने का फ़ैसला।
4. खाद्य उपलब्धता पर तकनीक के प्रभाव को दर्शाने के लिए इतिहास से दो उदाहरण दें।
5. ब्रेटन वुड्स समझौते का क्या अर्थ है।

संक्षेप में लिखें

चर्चा करें

6. कल्पना कीजिए की आप कैरीबियाई क्षेत्र में काम करने वाले गिरमिटिया मज़दूर हैं। इस अध्याय में दिए गए विवरणों के आधार पर अपने हालात और अपनी भावनाओं का वर्णन करते हुए अपने परिवार के नाम एक पत्र लिखें।
7. अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक विनिमयों में तीन तरह की गतियों या प्रवाहों की व्याख्या करें। तीनों प्रकार की गतियों के भारत और भारतीयों से संबंधित एक-एक उदाहरण दें और उनके बारे में संक्षेप में लिखें।
8. महामंदी के कारणों की व्याख्या करें।
9. जी-77 देशों से आप क्या समझते हैं। जी-77 को किस आधार पर ब्रेटन वुड्स की जुड़वाँ संतानों की प्रतिक्रिया कहा जा सकता है। व्याख्या करें।

चर्चा करें

परियोजना कार्य

उन्नीसवीं सदी के दौरान दक्षिण अफ़्रीका में स्वर्ण हीरा खनन के बारे में और जानकारियाँ इकट्ठी करें। सोना और हीरा कंपनियों पर किसका नियंत्रण था? खनिक कौन लोग थे और उनका जीवन कैसा था?

परियोजना कार्य

© NCERT not to be republished

2019-20

औद्योगीकरण का युग

1067CH04

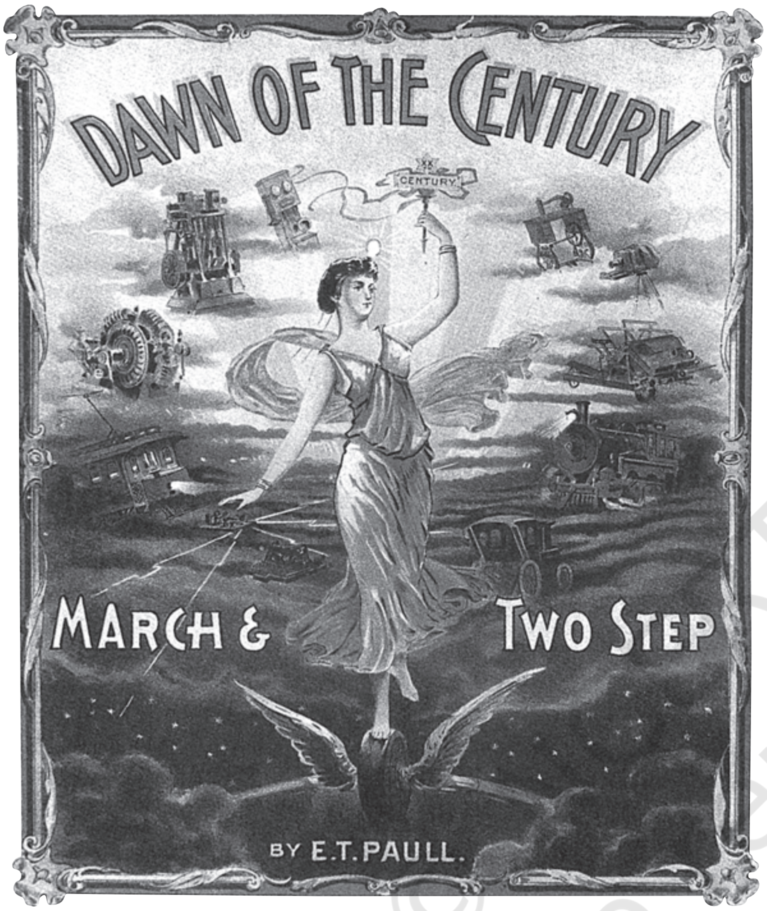

चित्र 1 – डॉन ऑफ़ द सेंचुरी, ई.टी. पॉल म्यूज़िक कंपनी, न्यूयॉर्क (अमेरिका) एवं इंग्लैंड, 1900

ई.टी. पॉल म्यूज़िक कंपनी ने सन् 1900 में संगीत की एक किताब प्रकाशित की थी जिसकी जिल्द पर दी गई तसवीर में 'नयी सदी के उदय' (डॉन ऑफ़ द सेंचुरी) (चित्र 1) का ऐलान किया था। जैसा कि आप इस चित्र में देख सकते हैं, तसवीर के मध्य में एक देवी जैसी तसवीर है। यह देवी हाथ में नयी शताब्दी की ध्वजा लिए प्रगति का फ़रिश्ता दिखाई देती है। उसका एक पाँव पंखों वाले पहिये पर टिका हुआ है। यह पहिया समय का प्रतीक है। उसकी उड़ान भविष्य की ओर है। उसके पीछे उन्नति के चिह्न तैर रहे हैं : रेलवे, कैमरा, मशीनें, प्रिंटिंग प्रेस और कारख़ाना।

मशीन और तकनीक का यह महिमामंडन एक अन्य तसवीर में और भी ज़्यादा साफ़ दिखाई देता है। यह तसवीर एक व्यापारिक पत्रिका के पन्नों पर सौ साल से भी पहले छपी थी (चित्र 2)। इस तसवीर में दो जादूगर दिखाए गए हैं। ऊपर वाले हिस्से में **प्राच्य** (Orient) इलाक़े का अलादीन है जिसने अपने जादुई चिराग को रगड़ कर एक भव्य महल का निर्माण कर दिया है। नीचे

नए शब्द

प्राच्य : भूमध्य सागर के पूर्व में स्थित देश। आमतौर पर यह शब्द एशिया के लिए इस्तेमाल किया जाता है। पश्चिमी नज़रिये में प्राच्य इलाक़े पूर्व-आधुनिक, पारंपरिक और रहस्यमय थे।

एक आधुनिक मेकैनिक है जो अपने आधुनिक औज़ारों से एक नया जादू रच रहा है। वह पुल, पानी के जहाज़, मीनार और गगनचुंबी इमारतें बनाता है। अलादीन पूरब और अतीत का प्रतीक है; मेकैनिक पश्चिम और आधुनिकता का।

ये तसवीरें आधुनिक विश्व की विजयगाथा कहती हैं। इस गाथा में आधुनिक विश्व द्रुत तकनीकी बदलावों व आविष्कारों, मशीनों व कारखानों, रेलवे और वाष्पपोतों की दुनिया के रूप में दर्शाया गया है। इसमें औद्योगीकरण का इतिहास विकास की कहानी के रूप में सामने आता है और आधुनिक युग तकनीकी प्रगति के भव्य युग के रूप में उभरता है।

अब ये छवियाँ और ये संबंध लोकमानस का हिस्सा बन चुके हैं। क्या आप भी तेज़ औद्योगीकरण को प्रगति व आधुनिकता के काल के रूप में नहीं देखते? क्या आपको नहीं लगता कि रेलवे और फ़ैक्ट्रियों का निर्माण, गगनचुंबी इमारतों व पुलों का विस्तार समाज के विकास का द्योतक होता है?

ये छवियाँ किस प्रकार विकसित हुई हैं? इन विचारों से हमारा क्या संबंध है? क्या औद्योगीकरण के लिए तीव्र तकनीकी विकास हमेशा जरूरी होता है? क्या आज भी हम तमाम तरह के कामों के दिनोंदिन बढ़ते मशीनीकरण का गुणगान कर सकते हैं? औद्योगीकरण से लोगों की ज़िंदगी पर क्या असर पड़ा है? ऐसे सवालों का जवाब देने के लिए हमें औद्योगीकरण के इतिहास को समझना पड़ेगा।

इस अध्याय में हम यही इतिहास पढ़ेंगे। यहाँ हम दुनिया के पहले औद्योगिक राष्ट्र–ब्रिटेन और उसके बाद भारत में औद्योगीकरण का अध्ययन करेंगे जहाँ औद्योगिक बदलावों का पैटर्न औपनिवेशिक शासन से तय हो रहा था।

चित्र 2 – दो जादूगर, इनलैंड प्रिंटर्स में प्रकाशित, 26 जनवरी 1901

गतिविधि

दो ऐसे उदाहरण दीजिए जहाँ आधुनिक विकास से प्रगति की बजाय समस्याएँ पैदा हुई हैं। आप चाहें तो पर्यावरण, आणविक हथियारों व बीमारियों से संबंधित क्षेत्रों पर विचार कर सकते हैं।

1 औद्योगिक क्रांति से पहले

औद्योगीकरण को अकसर हम कारखानों के विकास के साथ ही जोड़कर देखते हैं। जब हम औद्योगिक उत्पादन की बात करते हैं तो हमारा आशय फ़ैक्ट्रियों में होने वाले उत्पादन से होता है। और जब हम औद्योगिक मज़दूरों की बात करते हैं, तो भी हमारा आशय कारखानों में काम करने वाले मज़दूरों से ही होता है। औद्योगीकरण के इतिहास अकसर प्रारंभिक फ़ैक्ट्रियों की स्थापना से शुरू होते हैं।

पर इस सोच में एक समस्या है। दरअसल, इंग्लैंड और यूरोप में फ़ैक्ट्रियों की स्थापना से भी पहले ही अंतर्राष्ट्रीय बाज़ार के लिए बड़े पैमाने पर औद्योगिक उत्पादन होने लगा था। यह उत्पादन फ़ैक्ट्रियों में नहीं होता था। बहुत सारे इतिहासकार औद्योगीकरण के इस चरण को **आदि**-औद्योगीकरण (proto-industrialisation) का नाम देते हैं।

नए शब्द

आदि : किसी चीज़ की पहली या प्रारंभिक अवस्था का संकेत।

सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी में यूरोपीय शहरों के सौदागर गाँवों की तरफ़ रुख़ करने लगे थे। वे किसानों और कारीगरों को पैसा देते थे और उनसे अंतर्राष्ट्रीय बाज़ार के लिए उत्पादन करवाते थे। उस समय विश्व व्यापार के विस्तार और दुनिया के विभिन्न भागों में उपनिवेशों की स्थापना के कारण चीज़ों की माँग बढ़ने लगी थी। इस माँग को पूरा करने के लिए केवल शहरों में रहते हुए उत्पादन नहीं बढ़ाया जा सकता था। वजह यह थी कि शहरों में शहरी दस्तकारी और व्यापारिक गिल्ड्स काफ़ी ताकतवर थे। ये गिल्ड्स उत्पादकों के संगठन होते थे। गिल्ड्स से जुड़े उत्पादक कारीगरों को प्रशिक्षण देते थे, उत्पादकों पर नियंत्रण रखते थे, प्रतिस्पर्धा और मूल्य तय करते थे तथा व्यवसाय में नए लोगों को आने से रोकते थे। शासकों ने भी विभिन्न गिल्ड्स को खास उत्पादों के उत्पादन और व्यापार का एकाधिकार दिया हुआ था। फलस्वरूप, नए व्यापारी शहरों में कारोबार नहीं कर सकते थे। इसलिए वे गाँवों की तरफ़ जाने लगे।

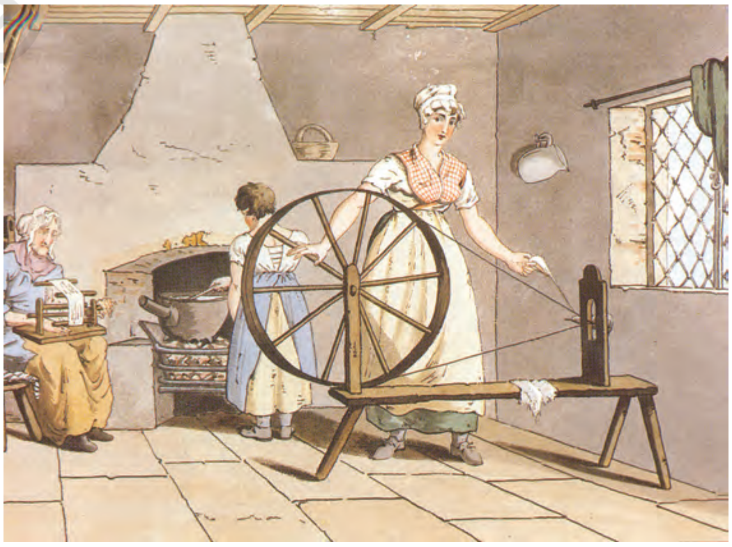

चित्र 3 – अठारहवीं सदी में कताई।
आप देख सकते हैं कि परिवार के सभी सदस्य धागा बनाने के काम में लगे हैं। ध्यान से देखिए कि एक चरखे पर केवल एक ही तकली बन रही है।

गाँवों में गरीब काश्तकार और दस्तकार सौदागरों के लिए काम करने लगे। जैसा कि आपने पिछले साल की पाठ्यपुस्तक में देखा है, यह एक ऐसा समय था जब खुले खेत खत्म होते जा रहे थे और कॉमन्स की बाड़ाबंदी की जा रही थी। अब तक अपनी रोज़ी-रोटी के लिए साझा ज़मीनों से जलावन की लकड़ी, बेरियाँ, सब्ज़ियाँ, भूसा और चारा आदि बीन कर काम चलाने वाले छोटे किसान (कॉटेज़र) और गरीब किसान आमदनी के नए स्रोत ढूँढ़ रहे थे। बहुतों के पास छोटे-मोटे खेत तो थे लेकिन उनसे घर के सारे लोगों का पेट नहीं भर सकता था। इसीलिए, जब सौदागर वहाँ आए और उन्होंने माल पैदा करने के लिए पेशगी रक़म दी तो किसान फ़ौरन तैयार हो गए। सौदागरों के लिए काम करते हुए वे गाँव में ही रहते हुए अपने छोटे-छोटे खेतों को भी सँभाल सकते थे।

इस आदि–औद्योगिक उत्पादन से होने वाली आमदनी ने खेती के कारण सिमटती आय में बड़ा सहारा दिया। अब उन्हें पूरे परिवार के श्रम संसाधनों के इस्तेमाल का मौक़ा भी मिल गया।

इस व्यवस्था से शहरों और गाँवों के बीच एक घनिष्ठ संबंध विकसित हुआ। सौदागर रहते तो शहरों में थे लेकिन उनके लिए काम ज़्यादातर देहात में चलता था। इंग्लैंड के कपड़ा व्यवसायी **स्टेप्लर्स** (Staplers) से ऊन खरीदते थे और उसे सूत कातने वालों के पास पहुँचा देते थे। इससे जो धागा मिलता था उसे बुनकरों, **फ़ुलर्ज़** (Fullers), और रंगसाज़ों के पास ले जाया जाता था। लंदन में कपड़ों की फिनिशिंग होती थी। इसके बाद निर्यातक व्यापारी कपड़े को अंतर्राष्ट्रीय बाज़ार में बेच देते थे। इसीलिए लंदन को तो फ़िनिशिंग सेंटर के रूप में ही जाना जाने लगा था।

यह आदि–औद्योगिक व्यवस्था व्यवसायिक आदान–प्रदान के नेटवर्क का हिस्सा थी। इस पर सौदागरों का नियंत्रण था और चीज़ों का उत्पादन कारखानों की बजाय घरों में होता था। उत्पादन के प्रत्येक चरण में प्रत्येक सौदागर 20–25 मज़दूरों से काम करवाता था। इसका मतलब यह था कि कपड़ों के हर सौदागर के पास सैकड़ों मज़दूर काम करते थे।

नए शब्द

स्टेपलर : ऐसा व्यक्ति जो रेशों के हिसाब से ऊन को 'स्टेपल' करता है या छाँटता है।

फुलर : ऐसा व्यक्ति जो 'फुल' करता है यानी चुन्नटों के सहारे कपड़े को समेटता है।

कार्डिंग : वह प्रक्रिया जिसमें कपास या ऊन आदि रेशों को कताई के लिए तैयार किया जाता है।

1.1 कारख़ानों का उदय

इंग्लैंड में सबसे पहले 1730 के दशक में कारख़ाने खुले लेकिन उनकी संख्या में तेज़ी से इज़ाफ़ा अठारहवीं सदी के आखिर में ही हुआ।

कपास (कॉटन) नए युग का पहला प्रतीक थी। उन्नीसवीं सदी के आखिर में कपास के उत्पादन में भारी बढ़ोतरी हुई। 1760 में ब्रिटेन अपने कपास उद्योग की ज़रूरतों को पूरा करने के लिए 25 लाख पौंड कच्चे कपास का आयात करता था 1787 में यह आयात बढ़कर 220 लाख पौंड तक पहुँच गया। यह इज़ाफ़ा उत्पादन की प्रक्रिया में बहुत सारे बदलावों का परिणाम था। आइए देखें कि ये बदलाव कौन से थे।

अठारहवीं सदी में कई ऐसे आविष्कार हुए जिन्होंने उत्पादन प्रक्रिया (**कार्डिंग**, ऐंठना व कताई, और लपेटने) के हर चरण की कुशलता बढ़ा दी। प्रति मज़दूर उत्पादन बढ़ गया और पहले से ज़्यादा मजबूत धागों व रेशों का उत्पादन होने लगा। इसके बाद रिचर्ड आर्कराइट ने सूती कपड़ा मिल की रूपरेखा सामने रखी। अभी तक कपड़ा उत्पादन पूरे देहात में फैला हुआ था। यह काम लोग अपने–अपने घर पर ही करते थे। लेकिन अब मँहगी नयी मशीनें खरीदकर उन्हें कारखानों में लगाया जा सकता था। कारखाने में सारी प्रक्रियाएँ एक छत के नीचे और एक मालिक के हाथों में आ गई थीं। इसके चलते उत्पादन प्रक्रिया पर निगरानी, गुणवत्ता का ध्यान रखना और मज़दूरों पर नज़र रखना संभव हो गया था। जब तक उत्पादन गाँवों में हो रहा था तब तक ये सारे काम संभव नहीं थे।

चित्र 4 – लंकाशायर की एक कॉटन मिल, सी.ई. टर्नर द्वारा बनाया चित्र, दि इलस्ट्रेटेड लंदन न्यूज़, 1925
कलाकार ने कहा : 'अगर उस नम मौसम की नज़र से देखें जिसके कारण लंकाशायर दुनिया में सूत कताई के लिए सबसे आदर्श स्थान बनता है तो शाम के धुँधलके में दमकता कॉटन मिल सबसे शानदार नज़ारा दिखाई देता है।'

© NCERT not to be republished

उन्नीसवीं सदी की शुरुआत में कारखाने इंग्लैंड के भूदृश्य का अभिन्न अंग बन गए थे। ये नए कारखाने इतने विशाल, और नयी प्रौद्योगिकी की ताक़त इतनी जादुई दिखाई देती थी कि उस समय के लोगों की आँखें चौंधिया जाती थीं। लोगों का ध्यान कारखानों पर टिका रह जाता था। वे इस बात को मानो भूल ही जाते थे कि उनकी आँखों से ओझल गलियों और वर्कशॉप्स में अभी भी उत्पादन चालू है।

गतिविधि

जिस तरह इतिहासकार छोटी वर्कशॉप की बजाय औद्योगीकरण पर ध्यान केंद्रित करते हैं यह इस बात का एक बढ़िया उदाहरण है कि आज हम अतीत के बारे में जो विश्वास लिए हुए हैं वे इस बात से तय होते हैं कि इतिहासकार भी सिर्फ़ कुछ चीज़ों पर ध्यान देते हैं और कुछ को नज़रअंदाज़ कर देते हैं। अपने जीवन की किसी एक ऐसी घटना या पहलू को लिखें जिसे आपके माता-पिता या शिक्षक आदि वयस्क लोग महत्त्वपूर्ण नहीं मानते लेकिन आपको वह महत्त्वपूर्ण लगती है।

1.2 औद्योगिक परिवर्तन की रफ़्तार

औद्योगीकरण की प्रक्रिया कितनी तेज़ थी? क्या औद्योगीकरण का मतलब केवल फ़ैक्ट्री उद्योगों के विकास तक ही सीमित होता है?

चित्र 5 - औद्योगिक मैनचेस्टर, एम. जैक्सन का चित्र,* द इलस्ट्रेटेड लंदन न्यूज, *1857
धुआँ छोड़ती चिमनियाँ औद्योगिक इलाकों की पहचान बन गई थीं।

पहला : सूती उद्योग और कपास उद्योग ब्रिटेन के सबसे फलते-फूलते उद्योग थे। तेज़ी से बढ़ता हुआ कपास उद्योग 1840 के दशक तक औद्योगीकरण के पहले चरण में सबसे बड़ा उद्योग बन चुका था। इसके बाद लोहा और स्टील उद्योग आगे निकल गए। 1840 के दशक से इंग्लैंड में और 1860 के दशक से उसके उपनिवेशों में रेलवे का विस्तार होने लगा था। फलस्वरूप लोहे और स्टील की ज़रूरत तेजी से बढ़ी। 1873 तक ब्रिटेन के लोहा और स्टील निर्यात का मूल्य लगभग 7.7 करोड़ पौंड हो गया था। यह राशि इंग्लैंड के कपास निर्यात के मूल्य से दोगुनी थी।

गतिविधि

चित्र 4 और 5 को देखें। क्या आपको दोनों तसवीरों में औद्योगीकरण को दर्शाने के ढंग में कोई फ़र्क़ दिखाई देता है? अपना दृष्टिकोण संक्षेप में व्यक्त करें।

दूसरा : नए उद्योग परंपरागत उद्योगों को इतनी आसानी से हाशिए पर नहीं ढकेल सकते थे। उन्नीसवीं सदी के आखिर में भी तकनीकी रूप से विकसित औद्योगिक क्षेत्र में काम करने वाले मज़दूरों की संख्या कुल मज़दूरों में 20

प्रतिशत से ज़्यादा नहीं थी। कपड़ा उद्योग एक गतिशील उद्योग था लेकिन उसके उत्पादन का बड़ा हिस्सा कारखानों में नहीं बल्कि घरेलू इकाइयों में होता था।

तीसरा : यद्यपि 'परंपरागत' उद्योगों में परिवर्तन की गति भाप से चलने वाले सूती और धातु उद्योगों से तय नहीं हो रही थी लेकिन ये परंपरागत उद्योग पूरी तरह ठहराव की अवस्था में भी नहीं थे। खाद्य प्रसंस्करण, निर्माण, पॉटरी, काँच के काम, चर्मशोधन, फ़र्नीचर और औज़ारों के उत्पादन जैसे बहुत सारे ग़ैर-मशीनी क्षेत्रों में जो तरक्क़ी हो रही थी वह मुख्य रूप से साधारण और छोटे-छोटे आविष्कारों का ही परिणाम थी।

चित्र 6 - इंग्लैंड में एक रेलवे कारख़ाने में फ़िटिंग शॉप,* दि इलस्ट्रेटेड लंदन न्यूज़, *1849
इस फ़िटिंग शॉप में नए लोकोमोटिव इंजन बनाए जाते थे और पुरानों की मरम्मत की जाती थी।

चौथा : प्रौद्योगिकीय बदलावों की गति धीमी थी। औद्योगिक भूदृश्य पर ये बदलाव नाटकीय तेज़ी से नहीं फैले। नयी तकनीक मँहगी थी। सौदागर व व्यापारी उनके इस्तेमाल के सवाल पर फूँक-फूँक कर कदम बढ़ाते थे। मशीनें अकसर खराब हो जाती थीं और उनकी मरम्मत पर काफ़ी खर्चा आता था। वे उतनी अच्छी भी नहीं थीं जितना उनके आविष्कारकों और निर्माताओं का दावा था।

इस बात को समझने के लिए आइए भाप के इंजन का उदाहरण लें। जेम्स वॉट ने न्यूकॉमेन द्वारा बनाए गए भाप के इंजन में सुधार किए और 1871 में नए इंजन को पेटेंट करा लिया। इस मॉडल का उत्पादन उनके दोस्त उद्योगपति मैथ्यू बूल्टन ने किया। पर, सालों तक उन्हें कोई खरीदार नहीं मिला। उन्नीसवीं सदी की शुरुआत तक पूरे इंग्लैंड में भाप के सिर्फ़ 321 इंजन थे। इनमें से 80 इंजन सूती उद्योगों में, 9 ऊन उद्योगों में और बाकी खनन, नहर निर्माण और लौह कार्यों में इस्तेमाल हो रहे थे। और किसी उद्योग में भाप के इंजनों का इस्तेमाल काफ़ी समय बाद तक भी नहीं हुआ। यानी मज़दूरों की उत्पादन क्षमता को कई गुना बढ़ाने की संभावना वाली सबसे शक्तिशाली प्रौद्योगिकी को अपनाने में भी उद्योगपति बहुत हिचकिचा रहे थे।

अब इतिहासकार इस बात को मानने लगे हैं कि उन्नीसवीं सदी के मध्य का औसत मज़दूर मशीनों पर काम करने वाला नहीं बल्कि परंपरागत कारीगर और मज़दूर ही होता था।

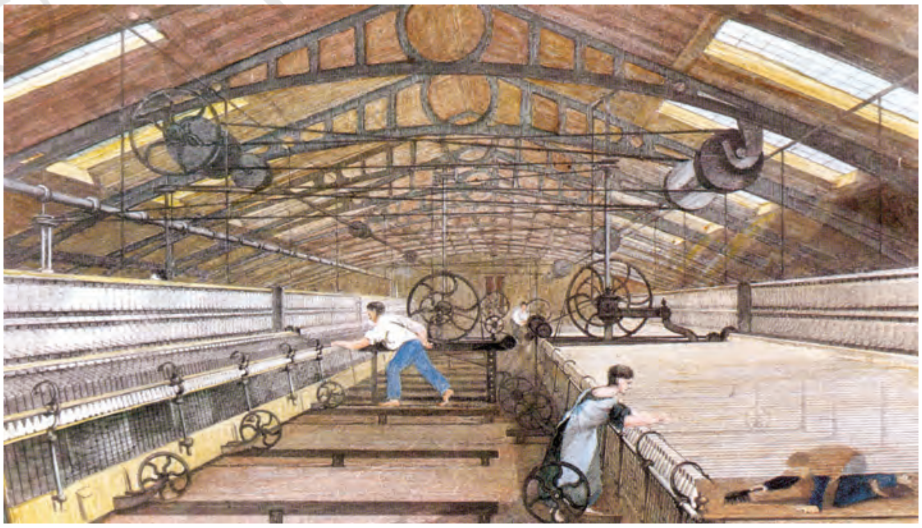

चित्र 7 - 1830 की एक कताई फ़ैक्ट्री।
आप देख सकते हैं कि किस तरह भाप की ताक़त से चलने वाले विशालकाय पहिये एक साथ सैकड़ों तकलियों को घुमाने लगते थे।

© NCERT not to be republished

2019-20

2 हाथ का श्रम और वाष्प शक्ति

विक्टोरिया कालीन ब्रिटेन में मानव श्रम की कोई कमी नहीं थी। ग़रीब किसान और बेकार लोग कामकाज की तलाश में बड़ी संख्या में शहरों को जाते थे। जैसा कि आप आगे जानेंगे, जब श्रमिकों की बहुतायत होती है तो वेतन गिर जाते हैं। इसीलिए, उद्योगपतियों को श्रमिकों की कमी या वेतन के मद में भारी लागत जैसी कोई परेशानी नहीं थी। उन्हें ऐसी मशीनों में कोई दिलचस्पी नहीं थी जिनके कारण मज़दूरों से छुटकारा मिल जाए और जिन पर बहुत ज़्यादा खर्चा आने वाला हो।

बहुत सारे उद्योगों में श्रमिकों की माँग मौसमी आधार पर घटती–बढ़ती रहती थी। गैसघरों और शराबखानों में जाड़ों के दौरान खासा काम रहता था। इस दौरान उन्हें ज़्यादा मज़दूरों की ज़रूरत होती थी। क्रिसमस के समय बुक बाइंडरों और प्रिंटरों को भी दिसंबर से पहले अतिरिक्त मज़दूरों की दरकार रहती थी। बंदरगाहों पर जहाज़ों की मरम्मत और साफ़–सफ़ाई व सजावट का काम भी जाड़ों में ही किया जाता था। जिन उद्योगों में मौसम के साथ उत्पादन घटता–बढ़ता रहता था वहाँ उद्योगपति मशीनों की बजाय मज़दूरों को ही काम पर रखना पसंद करते थे।

चित्र 8 – काम की तलाश में निकले लोग, दि इलस्ट्रेटेड लंदन न्यूज़, 1879
कुछ लोग छोटी-मोटी चीज़ें बेचते और अस्थायी काम तलाशते हुए हमेशा एक जगह से दूसरी जगह भटकते रहते थे।

बहुत सारे उत्पाद केवल हाथ से ही तैयार किए जा सकते थे। मशीनों से एक जैसे तय किस्म के उत्पाद ही बड़ी संख्या में बनाए जा सकते थे। लेकिन

स्रोत-क

विल थोर्न मौसमी काम की तलाश में निकलने वाले मज़दूरों में से एक थे। उन्होंने ईंटें ढोई और अन्य छोटे–मोटे काम किए। वह बताते हैं कि नौकरी के इच्छुक किस तरह पैदल लंदन जाते थे –

'मैं हमेशा लंदन जाना चाहता था। मेरी इच्छा हमेशा एक पुराने दोस्त के खतों को पढ़कर और मज़बूत हो जाती थी... वह ओल्ड केंट रोड गैस वर्क्स में काम करता है... आखिरकार मैंने जाने का मन बना लिया... नवंबर 1881 में। दो दोस्तों के साथ मैं सफ़र पर निकल पड़ा। हम इस आशा से भरे हुए थे कि वहाँ पहुँचते ही अपने दोस्त की मदद से हमें रोज़गार मिल जाएगा।. .. जब हम निकले तो हमारे पास खास कोई पैसा नहीं था। लंदन तक के रास्ते के लिए खाने और रात को ठहरने का पैसा भी नहीं था। कई दिन हम 20 मील और कई बार उससे कम पैदल चलते थे... तीसरे दिन हमारे पैसे खत्म हो गए... दो रातें हमने बाहर ही सोते हुए गुजारीं... एक बार भूसे के ढेर तले और एक बार खेत में बने एक शेड में... लंदन पहुँचने पर मैंने अपने दोस्त को ढूँढ़ने का प्रयास किया।... लेकिन नाकामयाब रहे। पैसा तो जा ही चुका था। इसलिए अब हमारे पास देर रात तक यहाँ–वहाँ भटकते रहने के अलावा और कोई चारा नहीं था। शाम को हम सोने का कोई ठिकाना ढूँढ़ते थे। हमने एक पुरानी इमारत ढूँढ़ी और एक रात उसी में बिताई। अगले दिन इतवार था। दोपहर बाद हम ओल्ड केंट गैस वर्क्स पहुँचे। वहाँ हमने काम के लिए अर्ज़ी दे दी। यह देखकर मेरे अचरज की सीमा न रही कि हम जिसे ढूँढ़ रहे थे वह वहीं काम कर रहा था। उसने फ़ोरमैन से बात की और मुझे नौकरी पर रख लिया गया।'

एच.जे. ड्योस एवं माइकल वुल्फ (सं.) द *विक्टोरियन सिटी : इमेजेज़ एंड रियेलिटीज़*, 1973 में रेफ़ेल सेमुअल के लेख 'कमर्स एंड गोअर्स' में उद्धृत।

स्रोत

गतिविधि

कल्पना कीजिए कि आप सौदागर हैं और एक ऐसे सेल्समैन को चिट्ठी लिख रहे हैं जो आपको नयी मशीन खरीदने के लिए राज़ी करने की कोशिश कर रहा है। अपने पत्र में बताइए कि मशीन के बारे में आपने क्या सुना है और आप नयी प्रौद्योगिकी में पैसा क्यों नहीं लगाना चाहते।

बाज़ार में अकसर बारीक डिज़ाइन और खास आकारों वाली चीज़ों की काफ़ी माँग रहती थी। उदाहरण के लिए, ब्रिटेन में उन्नीसवीं सदी के मध्य में 500 तरह के हथौड़े और 45 तरह की कुल्हाड़ियाँ बनाई जा रही थीं। इन्हें बनाने के लिए यांत्रिक प्रौद्योगिकी की नहीं बल्कि इनसानी निपुणता की ज़रूरत थी।

विक्टोरिया कालीन ब्रिटेन में उच्च वर्ग के लोग–कुलीन और पूँजीपति वर्ग– हाथों से बनी चीज़ों को तरजीह देते थे। हाथ से बनी चीज़ों को परिष्कार और सुरुचि का प्रतीक माना जाता था। उनकी फ़िनिश अच्छी होती थी। उनको एक-एक करके बनाया जाता था और उनका डिज़ाइन अच्छा होता था। मशीनों से बनने वाले उत्पादों को उपनिवेशों में निर्यात कर दिया जाता था।

जिन देशों में मज़दूरों की कमी होती है वहाँ उद्योगपति मशीनों का इस्तेमाल करना ज़्यादा पसंद करते हैं ताकि कम से कम मज़दूरों का इस्तेमाल करके वे अपना काम चला सकें। उन्नीसवीं सदी के अमेरिका में यही स्थिति थी। लेकिन ब्रिटेन में कामगारों की कोई कमी नहीं थी।

चित्र 9 – लोहे की फ़ैक्ट्री में मज़दूर, उत्तर-पूर्व इंग्लैंड, विलियम बेल स्कॉट की पेंटिंग, 1861
उन्नीसवीं सदी के आखिर में बहुत सारे कलाकार मज़दूरों को आदर्श के रूप में प्रस्तुत करने लगे थे। उन्हें राष्ट्र के लिए कठिनाइयाँ और पीड़ा झेलते हुए दिखाया जाता था।

2.1 मज़दूरों की ज़िंदगी

बाज़ार में श्रम की बहुतायत से मज़दूरों की ज़िंदगी भी प्रभावित हुई। जैसे ही नौकरियों की खबर गाँवों में पहुँची सैकड़ों की तादाद में लोगों के हुजूम शहरों

चित्र 10 – बेघर और भूखे, सेमुअल ल्यूक फिल्देस की पेंटिंग, 1874
इस पेंटिंग में दर्शाया गया है कि लंदन में बेघर लोग एक कामघर (Work house) में रात भर ठहरने के टिकट के लिए अर्ज़ी दे रहे हैं। ये आश्रय स्थल 'बेसहारा, सड़कों पर रहने वाले, आवाराओं और यहाँ-वहाँ भटकते' लोगों के लिए ग़रीब क़ानून आयुक्त की देखरेख में चलाए जाते थे। इन वर्कहाउसों में रहना ज़िल्लत की बात थी। हरेक की डाक्टरी जाँच करके ये पता लगाया जाता था कि व्यक्ति बीमार तो नहीं है, उनका शरीर पूरी तरह साफ़ है या नहीं और उनके कपड़े मैले तो नहीं हैं। उन्हें कठोर परिश्रम भी करना पड़ता था।

2019-20

की तरफ़ चल पड़े। नौकरी मिलने की संभावना यारी-दोस्ती, कुनबे-कुटुंब के ज़रिए जान-पहचान पर निर्भर करती थी। अगर किसी कारख़ाने में आपका रिश्तेदार या दोस्त लगा हुआ है तो नौकरी मिलने की संभावना ज़्यादा रहती थी। सबके पास ऐसे सामाजिक संपर्क नहीं होते थे। रोज़गार चाहने वाले बहुत सारे लोगों को हफ़्तों इंतज़ार करना पड़ता था। वे पुलों के नीचे या रैन-बसेरों में रातें काटते थे। कुछ बेरोज़गार शहर में बने निजी रैनबसेरों में रहते थे। बहुत सारे निर्धन क़ानून विभाग द्वारा चलाए जाने वाले अस्थायी बसेरों में रुकते थे।

बहुत सारे उद्योगों में मौसमी काम की वजह से कामगारों को बीच-बीच में बहुत समय तक खाली बैठना पड़ता था। काम का सीज़न गुजर जाने के बाद गरीब दोबारा सड़क पर आ जाते थे। कुछ लोग जाड़ों के बाद गाँवों में चले जाते थे जहाँ इस समय काम निकलने लगता था। लेकिन ज़्यादातर शहर में ही छोटा-मोटा काम ढूँढ़ने की कोशिश करते थे जो उन्नीसवीं सदी के मध्य तक भी आसान काम नहीं था।

उन्नीसवीं सदी की शुरुआत में वेतन में कुछ सुधार आया। लेकिन इससे मज़दूरों की हालत में बेहतरी का पता नहीं चलता। औसत आँकड़ों से अलग-अलग व्यवसायों के बीच आने वाले फ़र्क़ और साल-दर-साल होने वाले उतार-चढ़ाव छिपे रह जाते थे। मिसाल के तौर पर, जब लंबे नेपोलियनी युद्ध के दौरान कीमतें तेज़ी से बढ़ीं तो मज़दूरों की आय के वास्तविक मूल्य में भारी कमी आ गई। अब उन्हें वेतन तो पहले जितना मिलता था लेकिन उससे वे पहले जितनी चीज़ें नहीं खरीद सकते थे। मज़दूरों की आमदनी भी सिर्फ़ वेतन दर पर ही निर्भर नहीं होती थी। रोज़गार की अवधि भी बहुत महत्त्वपूर्ण थी : मज़दूरों की औसत दैनिक आय इससे तय होती थी कि उन्होंने

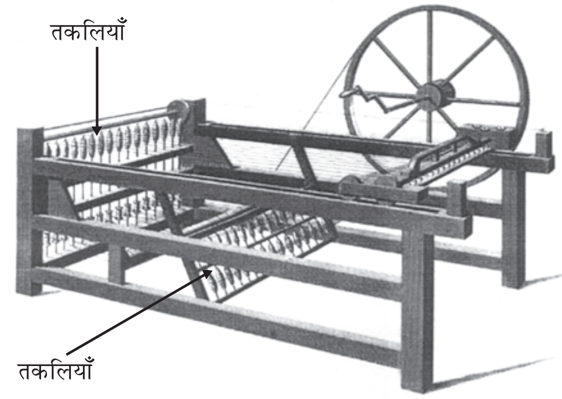

चित्र 11 - स्पिनिंग जेनी, टी.ई. निकल्सन द्वारा बनाया गया रेखाचित्र, 1835
ध्यान से देखिए कि एक ही पहिये से कितनी सारी तकलियाँ घूमने लगती थीं।

स्रोत-ख

एक मजिस्ट्रेट ने 1790 में एक ऐसी घटना के बारे में बताया जिसमें उसे मज़दूरों के हमले से निर्माता की संपत्ति की रक्षा के लिए बुलाया गया था :

'कोयला मज़दूरों और उनकी बीवियों के गिरोह की परेशानी के कारण... क्योंकि उनकी बीवियों का काम स्पिनिंग इंजन के कारण छिन गया था... शुरू में वे बड़े अड़ियल ढंग से आगे बढ़े। ऊन उत्पादन में अभी अपनाई गई मशीनों को वे टुकड़े-टुकड़े कर देना चाहते थे क्योंकि उनकी वजह से शारीरिक श्रम की माँग घटने वाली थी। औरतों ने हंगामा मचाया हुआ था। आदमियों को समझाना आसान था इसलिए कुछ खींचतान के बाद उन्हें शांतिपूर्वक घर जाने के लिए तैयार कर लिया गया।

जे.एल. हैमंड एवं बी. हैमंड, द *स्किल्ड लेबरर 1760-1832*, मैक्सिन बर्ग, *दि एज ऑफ़ मैन्युफैक्चर्स* में उद्धृत।

चर्चा करें

चित्र 3, 7 और 11 को देखिए। इसके बाद स्रोत-ख को दोबारा पढ़िए। अब बताइए कि बहुत सारे मज़दूर स्पिनिंग जेनी के इस्तेमाल का विरोध क्यों कर रहे थे।

© NCERT be republished

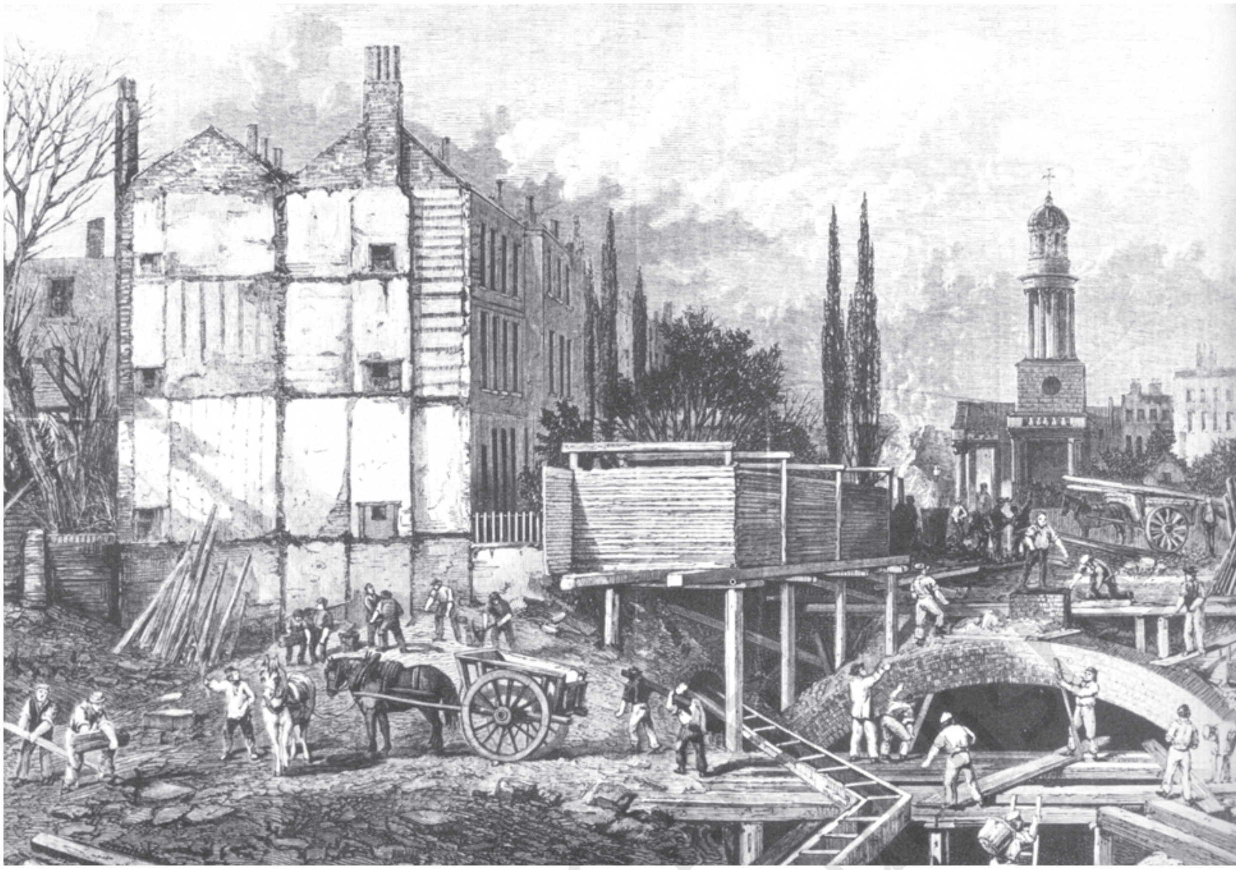

चित्र 12 – मध्य लंदन में निर्माणाधीन एक उथला भूमिगत रेलवे स्टेशन, इलस्ट्रेटेड टाइम्स, 1868
1850 के दशक से पूरे लंदन में रेलवे स्टेशन बनने लगे थे। इसका मतलब था कि सुरंगें बनाने, बल्लियों की पाड़ लगाने, ईंट और लोहे का काम करने के लिए बहुत सारे मज़दूरों की ज़रूरत थी। रोज़गार चाहने वाले एक निर्माण स्थल से दूसरे निर्माण स्थल तक जाते रहते थे।

कितने दिन काम किया है। उन्नीसवीं सदी के मध्य में सबसे अच्छे हालात में भी लगभग 10 प्रतिशत शहरी आबादी निहायत ग़रीब थी। 1830 के दशक में आई आर्थिक मंदी जैसे दौरों में बेरोज़गारों की संख्या विभिन्न क्षेत्रों में 35 से 75 प्रतिशत तक पहुँच जाती थी।

बेरोजगारी की आशंका के कारण मज़दूर नयी प्रौद्योगिकी से चिढ़ते थे। जब ऊन उद्योग में **स्पिनिंग जेनी** मशीन का इस्तेमाल शुरू किया गया तो हाथ से ऊन कातने वाली औरतें इस तरह की मशीनों पर हमला करने लगीं। जेनी के इस्तेमाल पर यह टकराव लंबे समय तक चलता रहा।

1840 के दशक के बाद शहरों में निर्माण की गतिविधियाँ तेज़ी से बढ़ीं। लोगों के लिए नए रोज़गार पैदा हुए। सड़कों को चौड़ा किया गया, नए रेलवे स्टेशन बने, रेलवे लाइनों का विस्तार किया गया, सुरंगें बनाई गईं, निकासी और सीवर व्यवस्था बिछाई गई, नदियों के तटबंध बनाए गए। परिवहन उद्योग में काम करने वालों की संख्या 1840 के दशक में दोगुना और अगले 30 सालों में एक बार फिर दोगुना हो गई।

नए शब्द

स्पिनिंग जेनी : जेम्स हरग्रीव्ज़ द्वारा 1764 में बनाई गई इस मशीन ने कताई की प्रक्रिया तेज़ कर दी और मज़दूरों की माँग घटा दी। एक ही पहिया घुमाने वाला एक मज़दूर बहुत सारी तकलियों को घुमा देता था और एक साथ कई धागे बनने लगते थे।

3 उपनिवेशों में औद्योगीकरण

आइए अब भारत पर नज़र डालें और देखें कि एक उपनिवेश का औद्योगीकरण कैसे होता है। यहाँ भी हम कारखाना उद्योग के साथ-साथ ग़ैर-मशीनी क्षेत्र पर भी ध्यान देंगे। हमारा अध्ययन मुख्य रूप से कपड़ा उद्योग तक ही सीमित रहेगा।

3.1 भारतीय कपड़े का युग

मशीन उद्योगों के युग से पहले अंतर्राष्ट्रीय कपड़ा बाज़ार में भारत के रेशमी और सूती उत्पादों का ही दबदबा रहता था। बहुत सारे देशों में मोटा कपास पैदा होता था लेकिन भारत में पैदा होने वाला कपास महीन किस्म का था। आर्मीनियन और फ़ारसी सौदागर पंजाब से अफ़गानिस्तान, पूर्वी फ़ारस और मध्य एशिया के रास्ते यहाँ की चीज़ें लेकर जाते थे। यहाँ के बने महीन कपड़ों के थान ऊँटों की पीठ पर लाद कर पश्चिमोत्तर सीमा से पहाड़ी दर्रों और रेगिस्तानों के पार ले जाए जाते थे। मुख्य पूर्व औपनिवेशिक बंदरगाहों से फलता-फूलता समुद्री व्यापार चलता था। गुजरात के तट पर स्थित सूरत बंदरगाह के ज़रिए भारत खाड़ी और लाल सागर के बंदरगाहों से जुड़ा हुआ था। कोरोमंडल तट पर मछलीपटनम और बंगाल में हुगली के माध्यम से भी दक्षिण-पूर्वी एशियाई बंदरगाहों के साथ खूब व्यापार चलता था।

गतिविधि

एशिया के मानचित्र पर भारत से मध्य एशिया, पश्चिम एशिया और दक्षिण पूर्व एशिया के साथ होने वाले कपड़ा व्यापार के समुद्री और सड़क संपर्कों को चिह्नित कीजिए।

निर्यात व्यापार के इस नेटवर्क में बहुत सारे भारतीय व्यापारी और बैंकर सक्रिय थे। वे उत्पादन में पैसा लगाते थे, चीज़ों को लेकर जाते थे और निर्यातकों को पहुँचाते थे। माल भेजने वाले आपूर्ति सौदागरों के जरिये बंदरगाह नगर देश के भीतरी इलाकों से जुड़े हुए थे। ये सौदागर बुनकरों को पेशगी देते थे, बुनकरों से तैयार कपड़ा खरीदते थे और उसे बंदरगाहों तक पहुँचाते थे। बंदरगाह पर बड़े जहाज़ मालिक और निर्यात व्यापारियों के दलाल कीमत पर मोल-भाव करते थे और आपूर्ति सौदागरों से माल खरीद लेते थे।

1750 के दशक तक भारतीय सौदागरों के नियंत्रण वाला यह नेटवर्क टूटने लगा था।

यूरोपीय कंपनियों की ताक़त बढ़ती जा रही थी। पहले उन्होंने स्थानीय दरबारों से कई तरह की रियायतें हासिल कीं और उसके बाद उन्होंने व्यापार पर इज़ारेदारी अधिकार प्राप्त कर लिए। इससे सूरत व हुगली, दोनों पुराने बंदरगाह कमज़ोर पड़ गए। इन बंदरगाहों से होने वाले निर्यात में नाटकीय कमी आई। पहले जिस क़र्ज़े से व्यापार चलता था वह खत्म होने लगा। धीरे-धीरे स्थानीय बैंकर दिवालिया हो गए। सत्रहवीं सदी के आखिरी सालों में सूरत बंदरगाह से होने वाले व्यापार का कुल मूल्य 1.6 करोड़ रुपये था। 1740 के दशक तक यह गिर कर केवल 30 लाख रुपये रह गया था।

© NCERT not to be republished

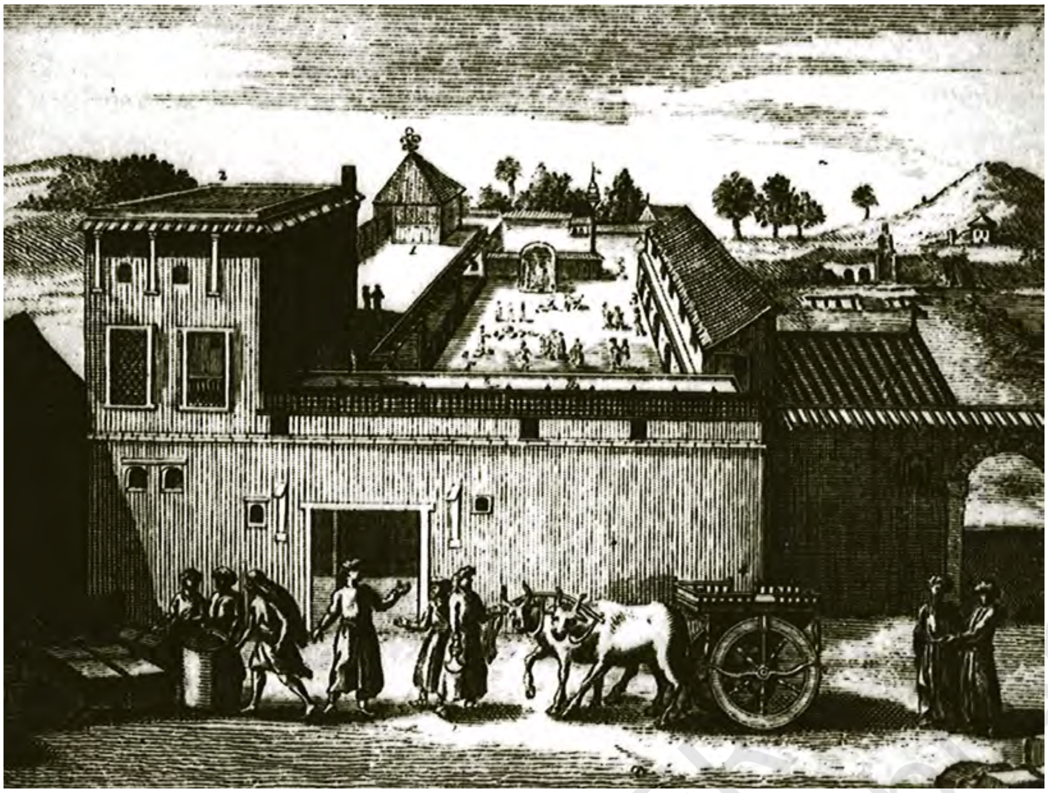

चित्र 13 – सूरत में एक इंग्लिश फ़ैक्ट्री, सत्रहवीं सदी का चित्र।

सूरत व हुगली कमज़ोर पड़ रहे थे और बंबई व कलकत्ता की स्थिति सुधर रही थी। पुराने बंदरगाहों की जगह नए बंदरगाहों का बढ़ता महत्त्व औपनिवेशिक सत्ता की बढ़ती ताक़त का संकेत था। नए बंदरगाहों के ज़रिए होने वाला व्यापार यूरोपीय कंपनियों के नियंत्रण में था और यूरोपीय जहाज़ों के ज़रिए होता था। बहुत सारे पुराने व्यापारिक घराने ढह चुके थे। जो बचे रहना चाहते थे उनके पास भी यूरोपीय व्यापारिक कंपनियों के नियंत्रण वाले नेटवर्क में काम करने के अलावा कोई चारा नहीं था।

इन बदलावों ने बुनकरों व अन्य कारीगरों की ज़िंदगी को किस तरह प्रभावित किया?

3.2 बुनकरों का क्या हुआ?

1760 के दशक के बाद ईस्ट इंडिया कंपनी की सत्ता के सुदृढ़ीकरण की शुरुआत में भारत के कपड़ा निर्यात में गिरावट नहीं आई। ब्रिटिश कपास उद्योग अभी फैलना शुरू नहीं हुआ था और यूरोप में बारीक भारतीय कपड़ों की भारी माँग थी। इसलिए कंपनी भी भारत से होने वाले कपड़े के निर्यात को ही और फैलाना चाहती थी।

चित्र 14 – काम पर लगा एक बुनकर, गुजरात।

1760 और 1770 के दशकों में बंगाल और कर्नाटक में राजनीतिक सत्ता स्थापित करने से पहले ईस्ट इंडिया कंपनी को निर्यात के लिए लगातार सप्लाई आसानी से नहीं मिल पाती थी। बुने हुए कपड़े को हासिल करने के लिए फ़्रांसीसी, डच और पुर्तगालियों के साथ-साथ स्थानीय व्यापारी भी होड़ में रहते थे। इस प्रकार बुनकर और आपूर्ति सौदागर खूब मोल-भाव करते थे और अपना माल सबसे ऊँची बोली लगाने वाले खरीदार को ही बेचते थे। लंदन भेजे गए अपने पत्र में कंपनी के अफ़सरों ने आपूर्ति में मुश्किल और ऊँचे दामों का बार-बार जिक्र किया है।

लेकिन एक बार ईस्ट इंडिया कंपनी की राजनीतिक सत्ता स्थापित हो जाने के बाद कंपनी व्यापार पर अपने एकाधिकार का दावा कर सकती थी। फलस्वरूप उसने प्रतिस्पर्धा खत्म करने, लागतों पर अंकुश रखने और कपास व रेशम से बनी चीज़ों की नियमित आपूर्ति सुनिश्चित करने के लिए प्रबंधन और नियंत्रण की एक नयी व्यवस्था लागू कर दी। यह काम कई चरणों में किया गया।

पहला : कंपनी ने कपड़ा व्यापार में सक्रिय व्यापारियों और दलालों को खत्म करने तथा बुनकरों पर ज़्यादा प्रत्यक्ष नियंत्रण स्थापित करने की कोशिश की। कंपनी ने बुनकरों पर निगरानी रखने, माल इकट्ठा करने और कपड़ों की गुणवत्ता जाँचने के लिए वेतनभोगी कर्मचारी तैनात कर दिए जिन्हें *गुमाश्ता* कहा जाता था।

दूसरा : कंपनी को माल बेचने वाले बुनकरों को अन्य खरीदारों के साथ कारोबार करने पर पाबंदी लगा दी गई। इसके लिए उन्हें पेशगी रक़म दी जाती थी। एक बार काम का ऑर्डर मिलने पर बुनकरों को कच्चा माल खरीदने के लिए क़र्ज़ा दे दिया जाता था। जो क़र्ज़ा लेते थे उन्हें अपना बनाया हुआ कपड़ा गुमाश्ता को ही देना पड़ता था। उसे वे किसी और व्यापारी को नहीं बेच सकते थे।

जैसे-जैसे क़र्ज़े मिलते गए और महीन कपड़े की माँग बढ़ने लगी, ज़्यादा कमाई की आस में बुनकर पेशगी स्वीकार करने लगे। बहुत सारे बुनकरों के पास जमीन के छोटे-छोटे पट्टे थे जिन पर वे खेती करते थे और अपने परिवार की ज़रूरतें पूरी कर लेते थे। अब वे इस जमीन को भाड़े पर देकर पूरा समय बुनकरी में लगाने लगे। अब पूरा परिवार यही काम करने लगा। बच्चे व औरतें, सभी कुछ न कुछ काम करते थे।

लेकिन जल्दी ही बहुत सारे बुनकर गाँवों में बुनकरों और गुमाश्तों के बीच टकराव की खबरें आने लगीं। इससे पहले आपूर्ति सौदागर अकसर बुनकर गाँवों में ही रहते थे और बुनकरों से उनके नज़दीकी ताल्लुकात होते थे। वे बुनकरों की ज़रूरतों का खयाल रखते थे और संकट के समय उनकी मदद

करते थे। नए गुमाश्ता बाहर के लोग थे। उनका गाँवों से पुराना सामाजिक संबंध नहीं था। वे दंभपूर्ण व्यवहार करते थे, सिपाहियों व चपरासियों को लेकर आते थे और माल समय पर तैयार न होने की स्थिति में बुनकरों को सज़ा देते थे। सज़ा के तौर पर बुनकरों को अकसर पीटा जाता था और कोड़े बरसाए जाते थे। अब बुनकर न तो दाम पर मोलभाव कर सकते थे और न ही किसी और को माल बेच सकते थे। उन्हें कंपनी से जो कीमत मिलती थी वह बहुत कम थी पर वे क़र्ज़ों की वजह से कंपनी से बँधे हुए थे।

कर्नाटक और बंगाल में बहुत सारे स्थानों पर बुनकर गाँव छोड़ कर चले गए। वे अपने रिश्तेदारों के यहाँ किसी और गाँव में करघा लगा लेते थे। कई स्थानों पर कंपनी और उसके अफ़सरों का विरोध करते हुए गाँव के व्यापारियों के साथ मिलकर बुनकरों ने बगावत कर दी। कुछ समय बाद बहुत सारे बुनकर क़र्ज़ा लौटाने से इनकार करने लगे। उन्होंने करघे बंद कर दिए और खेतों में मज़दूरी करने लगे।

उन्नीसवीं सदी आते-आते कपास बुनकरों के सामने नयी समस्याएँ पैदा हो गईं।

3.3 भारत में मैनचेस्टर का आना

1772 में ईस्ट इंडिया कंपनी के अफ़सर हेनरी पतूलो ने कहा था कि भारतीय कपड़े की माँग कभी कम नहीं हो सकती क्योंकि दुनिया के किसी और देश में इतना अच्छा माल नहीं बनता। लेकिन हम देखते हैं कि उन्नीसवीं सदी की शुरुआत में भारत के कपड़ा निर्यात में गिरावट आने लगी जो लंबे समय तक जारी रही। 1811-12 में सूती माल का हिस्सा कुल निर्यात में 33 प्रतिशत था। 1850-51 में यह मात्र 3 प्रतिशत रह गया था।

ऐसा क्यों हुआ? उसके निहितार्थ क्या थे?

जब इंग्लैंड में कपास उद्योग विकसित हुआ तो वहाँ के उद्योगपति दूसरे देशों से आने वाले आयात को लेकर परेशान दिखाई देने लगे। उन्होंने सरकार पर दबाव डाला कि वह आयातित कपड़े पर आयात शुल्क वसूल करे जिससे मैनचेस्टर में बने कपड़े बाहरी प्रतिस्पर्धा के बिना इंग्लैंड में आराम से बिक सकें। दूसरी तरफ़ उन्होंने ईस्ट इंडिया कंपनी पर दबाव डाला कि वह ब्रिटिश कपड़ों को भारतीय बाज़ारों में भी बेचे। उन्नीसवीं सदी की शुरुआत में ब्रिटेन के वस्त्र उत्पादों के निर्यात में नाटकीय वृद्धि हुई। अठारहवीं सदी के आखिर में भारत में उत्पादों का न के बराबर निर्यात होता था। 1850 तक आते-आते सूती का आयात भारतीय आयात में 31 प्रतिशत हो चुका था। 1870 तक यह आँकड़ा 50 प्रतिशत से ऊपर चला गया।

इस प्रकार भारत में कपड़ा बुनकरों के सामने एक-साथ दो समस्याएँ थीं। उनका निर्यात बाज़ार ढह रहा था और स्थानीय बाज़ार सिकुड़ने लगा था।

स्रोत-ग

पटना के आयुक्त ने लिखा –

'ऐसा लगता है कि 20 साल पहले जहानाबाद और बिहार में कपड़ों का बड़े पैमाने पर उत्पादन होता था। जहानाबाद में यह बिल्कुल बंद हो गया है। जबकि बिहार में बहुत कम उत्पादन होता है। यह मैनचेस्टर में बनी सस्ती और टिकाऊ वस्तुओं का परिणाम है जिनसे स्थानीय निर्माता प्रतिस्पर्धा नहीं कर सकते।'

जे. कृष्णमूर्ति, 'डीइंडस्ट्रियलाइज़ेशन ऑफ़ गैंगेटिक बिहार ड्यूरिंग द नाइनटींथ सेंचुरी', *दि इंडियन इकोनॉमिक एंड सोशल हिस्ट्री रिव्यू*, 1985, में उद्धृत।

स्रोत

स्रोत-घ

सेंसस रिपोर्ट ऑफ़ सेन्ट्रल प्रोविंसेज़ में बुनकरों के कोष्टि समुदाय के बारे में कहा गया था –

'भारत के अन्य भागों में महीन कपड़ा बनाने वाले बुनकरों की तरह कोष्टियों का भी बुरा समय चल रहा है। वे मैनचेस्टर से इतनी भारी तादाद में आने वाली आकर्षक चीज़ों का मुकाबला नहीं कर पा रहे हैं। हाल के सालों में वे बड़ी संख्या में यहाँ से जाने लगे हैं। वे मुख्य रूप से बिहार का रुख कर रहे हैं जहाँ दिहाड़ी मज़दूर के तौर पर उन्हें रोज़ी-रोटी मिल जाती है....'

सेंसस रिपोर्ट ऑफ़ सेन्ट्रल प्रोविंसेज़, 1872, सुमित गुहा 'द हैंडलूम इंडस्ट्री इन सेंट्रल इंडिया, 1825-1950', *दि इंडियन इकोनॉमिक एंड सोशल हिस्ट्री रिव्यू*, 1989, में उद्धृत।

स्रोत

© NCERT not to be republished

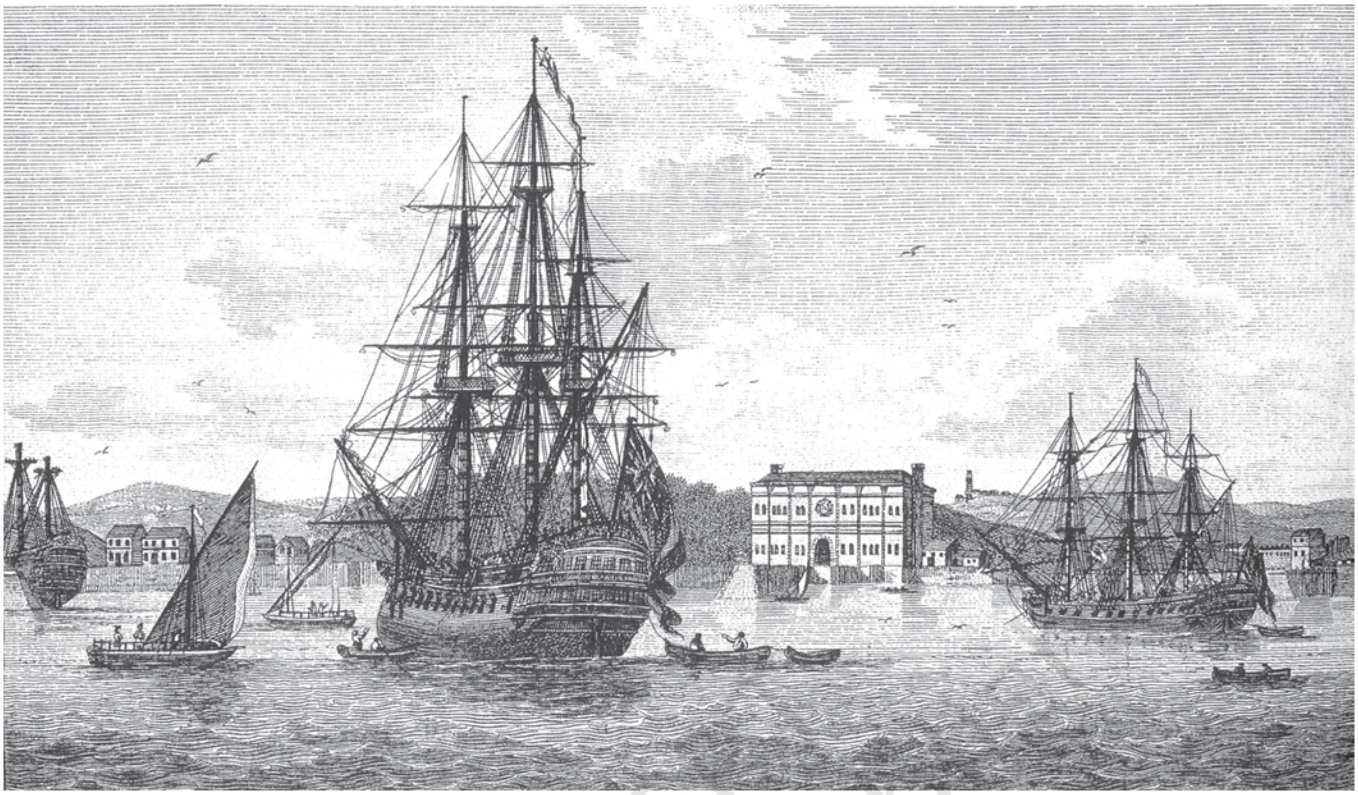

चित्र 15 – बॉम्बे हार्बर, अठारहवीं सदी के आख़िर का चित्र।
बंबई और कलकत्ता 1780 के दशक से व्यापारिक बंदरगाहों के रूप में विकसित होने लगे थे। यह पुरानी व्यापारिक व्यवस्था के पतन और औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था के विकास का समय था।

स्थानीय बाज़ार में मैनचेस्टर के आयातित मालों की भरमार थी। कम लागत पर मशीनों से बनने वाले आयातित कपास उत्पाद इतने सस्ते थे कि बुनकर उनका मुकाबला नहीं कर सकते थे। 1850 के दशक तक देश के ज़्यादातर बुनकर इलाकों में गिरावट और बेकारी के ही क़िस्सों की भरमार थी।

1860 के दशक में बुनकरों के सामने नयी समस्या खड़ी हो गई। उन्हें अच्छी कपास नहीं मिल पा रही थी। जब अमेरिकी गृहयुद्ध शुरू हुआ और अमेरिका से कपास की आमद बंद हो गई तो ब्रिटेन भारत से कच्चा माल मँगाने लगा। भारत से कच्चे कपास के निर्यात में इस वृद्धि से उसकी कीमत आसमान छूने लगी। भारतीय बुनकरों को कच्चे माल के लाले पड़ गए। उन्हें मनमानी कीमत पर कच्ची कपास खरीदनी पड़ती थी। ऐसी सूरत में बुनकरी के सहारे पेट पालना संभव नहीं था।

उन्नीसवीं सदी के आखिर में बुनकरों और कारीगरों के सामने एक और समस्या आ गई। अब भारतीय कारखानों में उत्पादन होने लगा और बाज़ार मशीनों की बनी चीज़ों से पट गया था। ऐसे में बुनकर उद्योग किस तरह क़ायम रह सकता था?

4 फ़ैक्ट्रियों का आना

बंबई में पहली कपड़ा मिल 1854 में लगी और दो साल बाद उसमें उत्पादन होने लगा। 1862 तक वहाँ ऐसी चार मिलें काम कर रही थीं। उनमें 94,000 तकलियाँ और 2,150 करघे थे। उसी समय बंगाल में जूट मिलें खुलने लगीं। वहाँ देश की पहली जूट मिल 1855 में और दूसरी 7 साल बाद 1862 में चालू हुई। उत्तरी भारत में एल्गिन मिल 1860 के दशक में कानपुर में खुली। इसके साल भर बाद अहमदाबाद की पहली कपड़ा मिल भी चालू हो गई। 1874 में मद्रास में भी पहली कताई और बुनाई मिल खुल गई।

ये उद्योग कौन लगा रहा था? उनके लिए पूँजी कहा से आ रही थी? मिलों में काम करने वाले कौन थे?

चित्र 16 – जमशेदजी जीजीभोये।
जीजीभोये एक पारसी बुनकर के बेटे थे। अपने समय के बहुत सारे लोगों की तरह उन्होंने भी चीन के साथ व्यापार और जहाज़रानी का काम किया था। उनके पास जहाज़ों का एक विशाल बेड़ा था। अंग्रेज़ और अमेरिकी जहाज़ कंपनियों के साथ प्रतिस्पर्धा के कारण 1850 के दशक तक उन्हें सारे जहाज़ बेचने पड़े।

4.1 प्रारंभिक उद्यमी

देश के विभिन्न भागों में तरह-तरह के लोग उद्योग लगा रहे थे। आइए देखें ये कौन लोग थे।

बहुत सारे व्यावसायिक समूहों का इतिहास चीन के साथ व्यापार के ज़माने से चला आ रहा था। जैसा कि पिछले साल की किताब में आपने पढ़ा था, अठारहवीं सदी के आखिर से ही अंग्रेज़ भारतीय अफ़ीम का चीन को निर्यात करने लगे थे। उसके बदले में वे चीन से चाय खरीदते थे जो इंग्लैंड जाती थी। इस व्यापार में बहुत सारे भारतीय कारोबारी सहायक की हैसियत में पहुँच गए थे। वे पैसा उपलब्ध कराते थे, आपूर्ति सुनिश्चित करते थे और माल को जहाज़ों में लाद कर रवाना करते थे। व्यापार से पैसा कमाने के बाद उनमें से कुछ व्यवसायी भारत में औद्योगिक उद्यम स्थापित करना चाहते थे। बंगाल में द्वारकानाथ टैगोर ने चीन के साथ व्यापार में खूब पैसा कमाया और वे उद्योगों में निवेश करने लगे। 1830-1840 के दशकों में उन्होंने 6 संयुक्त उद्यम कंपनियाँ लगा ली थीं। 1840 के दशक में आए व्यापक व्यावसायिक संकटों में औरों के साथ-साथ टैगोर के उद्यम भी बैठ गए। लेकिन उन्नीसवीं सदी में चीन के साथ व्यापार करने वाले बहुत सारे व्यवसायी सफल उद्योगपति भी साबित हुए। बंबई में डिनशॉ पेटिट और आगे चलकर देश में विशाल औद्योगिक साम्राज्य स्थापित करने वाले जमशेदजी नुसरवानजी टाटा जैसे पारसियों ने आंशिक रूप से चीन को निर्यात करके और आंशिक रूप से इंग्लैंड को कच्ची कपास निर्यात करके पैसा कमा लिया था। 1917 में कलकत्ता में देश की पहली जूट मिल लगाने वाले मारवाड़ी व्यवसायी सेठ हुकुमचंद ने भी चीन के साथ व्यापार किया था। यही काम प्रसिद्ध उद्योगपति जी.डी. बिड़ला के पिता और दादा ने किया।

चित्र 17 – द्वारकानाथ टैगोर।
द्वारकानाथ टैगोर का विश्वास था कि भारत पश्चिमीकरण और औद्योगीकरण के रास्ते पर चलकर ही विकास कर सकता है। उन्होंने जहाज़रानी, जहाज़ निर्माण, खनन, बैंकिंग, बागान और बीमा क्षेत्र में निवेश किया था।

© NCERT not to be republished

पूँजी इकट्ठा करने के लिए अन्य व्यापारिक नेटवर्कों का सहारा लिया गया। मद्रास के कुछ सौदागर बर्मा से व्यापार करते थे जबकि कुछ के मध्य-पूर्व व पूर्वी अफ़्रीका में संबंध थे। इनके अलावा भी कुछ वाणिज्यिक समूह थे लेकिन वे विदेश व्यापार से सीधे जुड़े हुए नहीं थे। वे भारत में ही व्यवसाय करते थे। वे एक जगह से दूसरी जगह माल ले जाते थे, सूद पर पैसा चलाते थे, एक शहर से दूसरे शहर में पैसा पहुँचाते थे और व्यापारियों को पैसा देते थे। जब उद्योगों में निवेश के अवसर आए तो उनमें से बहुतों ने फ़ैक्ट्रियाँ लगा लीं।

जैसे भारतीय व्यापार पर औपनिवेशिक शिकंजा कसता गया, वैसे-वैसे भारतीय व्यावसायियों के लिए जगह सिकुड़ती गई। उन्हें अपना तैयार माल यूरोप में बेचने से रोक दिया गया। अब वे मुख्य रूप से कच्चे माल और अनाज-कच्ची कपास, अफ़ीम, गेहूँ और नील-का ही निर्यात कर सकते थे जिनकी अंग्रेज़ों को ज़रूरत थी। धीरे-धीरे उन्हें जहाज़रानी व्यवसाय से भी बाहर धकेल दिया गया।

पहले विश्वयुद्ध तक यूरोपीय प्रबंधकीय एजेंसियाँ भारतीय उद्योगों के विशाल क्षेत्र का नियंत्रण करती थीं। इनमें बर्ड हीगलर्स एंड कंपनी, एंड्रयू यूल, और जार्डीन स्किनर एंड कंपनी सबसे बड़ी कंपनियाँ थीं। ये एजेंसियाँ पूँजी जुटाती थीं, संयुक्त उद्यम कंपनियाँ लगाती थीं और उनका प्रबंधन सँभालती थीं। ज़्यादातर मामलों में भारतीय वित्तपोषक (फाइनेंसर) पूँजी उपलब्ध कराते थे जबकि निवेश और व्यवसाय से संबंधित फ़ैसले यूरोपीय एजेंसियाँ लेती थीं। यूरोपीय व्यापारियों-उद्योगपतियों के अपने वाणिज्यिक परिसंघ थे जिनमें भारतीय व्यवसायियों को शामिल नहीं किया जाता था।

चित्र 18 - साझेदारों की टोली - जे.एन. टाटा, आर.डी. टाटा, सर आर.जे. टाटा और सर डी.जे. टाटा।
1912 में जे.एन. टाटा ने जमशेदपुर में भारत का पहला लौह एवं इस्पात संयंत्र स्थापित किया। भारत में लौह एवं इस्पात उद्योग, कपड़ा उद्योग के काफ़ी बाद शुरू हुआ। औपनिवेशिक भारत में औद्योगिक मशीनरी, रेलवे और लोकोमोटिव का ज़्यादातर आयात ही किया जाता था। इसलिए स्वतंत्रता मिलने तक भारी उद्योग कोई खास आगे नहीं बढ़ सकता था।

4.2 मज़दूर कहाँ से आए?

फ़ैक्ट्रियाँ होंगी तो मज़दूर भी होंगे। फ़ैक्ट्रियों के विस्तार से मज़दूरों की माँग बढ़ने लगी। 1901 में भारतीय फैक्ट्रियों में 5,84,000 मज़दूर काम करते थे। 1946 तक यह संख्या बढ़कर 24,36,000 हो चुकी थी। ये मज़दूर कहाँ से आए?

ज़्यादातर औद्योगिक इलाक़ों में मज़दूर आसपास के जिलों से आते थे। जिन किसानों-कारीगरों को गाँव में काम नहीं मिलता था वे औद्योगिक केंद्रों की तरफ़ जाने लगते थे। 1911 में बंबई के सूती कपड़ा उद्योग में काम करने वाले 50 प्रतिशत से ज़्यादा मज़दूर पास के रत्नागिरी जिले से आए थे। कानपुर की मिलों में काम करने वाले ज़्यादातर कानपुर जिले के ही गाँवों से आते थे। मिल मज़दूर बीच-बीच में अपने गाँव जाते रहते थे। वे फ़सलों की कटाई व त्यौहारों के समय गाँव लौट जाते थे।

बाद में, जब नए कामों की खबर फैली तो दूर-दूर से भी लोग आने लगे। उदाहरण के लिए, संयुक्त प्रांत के लोग बंबई के कपड़ा मिलों और कलकत्ता के जूट मिलों में काम करने के लिए पहुँच रहे थे।

चित्र 19 - बंबई के एक मिल के युवा कामगार, बीसवीं सदी की शुरुआत।
जब मज़दूर गाँव जाते थे तो अच्छे कपड़े पहनने की कोशिश करते थे।

© NCERT not to be republished

नौकरी पाना हमेशा मुश्किल था। हालाँकि मिलों की संख्या बढ़ती जा रही थी और मज़दूरों की माँग भी बढ़ रही थी लेकिन रोज़गार चाहने वालों की संख्या रोज़गारों के मुक़ाबले हमेशा ज़्यादा रहती थी। मिलों में प्रवेश भी निषिद्ध था। उद्योगपति नए मज़दूरों की भर्ती के लिए प्राय: एक **जॉबर** रखते थे। जॉबर कोई पुराना और विश्वस्त कर्मचारी होता था। वह अपने गाँव से लोगों को लाता था, उन्हें काम का भरोसा देता था, उन्हें शहर में जमने के लिए मदद देता था और मुसीबत में पैसे से मदद करता था। इस प्रकार जॉबर ताक़तवर और मज़बूत व्यक्ति बन गया था। बाद में जॉबर मदद के बदले पैसे व तोहफ़ों की माँग करने लगे और मज़दूरों की ज़िंदगी को नियंत्रित करने लगे।

समय के साथ फ़ैक्ट्री मज़दूरों की संख्या बढ़ने लगी। लेकिन जैसा कि आप देखेंगे, कुल औद्योगिक श्रम शक्ति में उनका अनुपात बहुत छोटा था।

चित्र 20 – मुख्य जॉबर।
इस चित्र में देखें कि उसका अंदाज और उसके कपड़ों से जॉबर की सत्ता का पता चलता है।

स्रोत-ङ

बंबई के एक मिल मज़दूर वसंत पारकर ने कहा –

'मज़दूर अपने बेटों को मिल में काम पर रखवाने के लिए जॉबर को पैसा देते थे...। मिल मज़दूर शारीरिक और भावनात्मक रूप से उसके गाँव से गहरे तौर पर जुड़े होते थे। वह गाँव जाकर फ़सलों की कटाई करता था। कोंकणी लोग धान काटने और घाटी यानी गन्ना काटने गाँव में जाते थे। यह एक स्वीकृत व्यवस्था थी जिसके लिए मिल वाले छुट्टी दे देते थे।'

मीना मेनन एवं नीरा अदरकर, *वन हंड्रेड इयर्स : वन हंड्रेड वॉइसेज़, 2004*

स्रोत

नए शब्द

जॉबर : इन्हें अलग-अलग इलाक़ों में 'सरदार' या 'मिस्त्री' आदि भी कहते थे।

स्रोत-च

भाई भोसले बंबई के ट्रेड यूनियन कार्यकर्ता थे। 1930-40 के दशकों में बिताए अपने बचपन को उन्होंने इस प्रकार याद किया –

'उस जमाने में दस घंटे की शिफ़्ट होती थी। शाम पाँच बजे से सुबह तीन बजे तक काम के सबसे भयानक घंटे। मेरे पिताजी ने 35 साल नौकरी की। उन्हें दमा जैसी बीमारी हो गई और वे काम करने से लाचार हो गए...। इसके बाद मेरे पिताजी वापस गाँव चले गए।'

मीना मेनन एवं नीरा अदरकर, *वन हंड्रेड इयर्स : वन हंड्रेड वॉइसेज़, 2004*

स्रोत

चित्र 21 – अहमदाबाद के एक मिल में कताई में लगी मज़दूर औरतें।
औरतें मुख्य रूप से कताई विभाग में ही काम करती थीं।

© NCERT not to be republished

5 औद्योगिक विकास का अनूठापन

भारत में औद्योगिक उत्पादन पर वर्चस्व रखने वाली यूरोपीय प्रबंधकीय एजेंसियों की कुछ खास तरह के उत्पादों में ही दिलचस्पी थी। उन्होंने औपनिवेशिक सरकार से सस्ती कीमत पर ज़मीन लेकर चाय व कॉफ़ी के बागान लगाए और खनन, नील व जूट व्यवसाय में पैसे का निवेश किया। इनमें से ज़्यादातर ऐसे उत्पाद थे जिनकी भारत में बिक्री के लिए नहीं बल्कि मुख्य रूप से निर्यात के लिए आवश्यकता थी।

उन्नीसवीं सदी के आखिर में जब भारतीय व्यवसायी उद्योग लगाने लगे तो उन्होंने भारतीय बाज़ार में मैनचेस्टर की बनी चीज़ों से प्रतिस्पर्धा नहीं की। भारत आने वाले ब्रिटिश मालों में धागा बहुत अच्छा नहीं था इसलिए भारत के शुरुआती सूती मिलों में कपड़े की बजाय मोटे सूती धागे ही बनाए जाते थे। जब धागे का आयात किया जाता था तो वह हमेशा बेहतर क़िस्म का होता था। भारतीय कताई मिलों में बनने वाले धागे का भारत के हथकरघा बुनकर इस्तेमाल करते थे या उन्हें चीन को निर्यात कर दिया जाता था।

बीसवीं सदी के पहले दशक तक भारत में औद्योगीकरण का ढर्रा कई बदलावों की चपेट में आ चुका था। स्वदेशी आंदोलन को गति मिलने से राष्ट्रवादियों ने लोगों को विदेशी कपड़े के बहिष्कार के लिए प्रेरित किया। औद्योगिक समूह अपने सामूहिक हितों की रक्षा के लिए संगठित हो गए और उन्होंने आयात शुल्क बढ़ाने तथा अन्य रियायतें देने के लिए सरकार पर दबाव डाला। 1906 के बाद चीन भेजे जाने वाले भारतीय धागे के निर्यात में भी कमी आने लगी थी। चीनी बाज़ारों में चीन और जापान की मिलों के उत्पाद छा गए थे। फलस्वरूप, भारत के उद्योगपति धागे की बजाय कपड़ा बनाने लगे। 1900 से 1912 के भारत में सूती कपड़े का उत्पादन दोगुना हो गया।

चित्र 22 – मद्रास चेम्बर ऑफ़ कॉमर्स का पहला दफ़्तर।
उन्नीसवीं सदी के आखिर तक देश के विभिन्न क्षेत्रों के व्यवसायी मिलकर चेम्बर ऑफ़ कॉमर्स बनाने लगे थे ताकि सही तरह से व्यवसाय कर सकें और सामूहिक चिंता के मुद्दों पर फ़ैसला ले सकें।

पहले विश्व युद्ध तक औद्योगिक विकास धीमा रहा। युद्ध ने एक बिलकुल नयी स्थिति पैदा कर दी थी। ब्रिटिश कारख़ाने सेना की ज़रूरतों को पूरा करने के लिए युद्ध संबंधी उत्पादन में व्यस्त थे इसलिए भारत में मैनचेस्टर के माल का आयात कम हो गया। भारतीय बाज़ारों को रातोंरात एक विशाल देशी बाज़ार मिल गया। युद्ध लंबा खिंचा तो भारतीय कारखानों में भी फ़ौज के लिए जूट की बोरियाँ, फ़ौजियों के लिए वर्दी के कपड़े, टेंट और चमड़े के जूते, घोड़े व खच्चर की जीन तथा बहुत सारे अन्य सामान बनने लगे। नए कारखाने लगाए गए।

पुराने कारखाने कई पालियों में चलने लगे। बहुत सारे नए मज़दूरों को काम पर रखा गया और हरेक को पहले से भी ज़्यादा समय तक काम करना पड़ता था। युद्ध के दौरान औद्योगिक उत्पादन तेज़ी से बढ़ा।

युद्ध के बाद भारतीय बाज़ार में मैनचेस्टर को पहले वाली हैसियत कभी हासिल नहीं हो पायी। आधुनिकीकरण न कर पाने और अमेरिका, जर्मनी व जापान के मुकाबले कमजोर पड़ जाने के कारण ब्रिटेन की अर्थव्यवस्था चरमरा गई थी। कपास का उत्पादन बहुत कम रह गया था और ब्रिटेन से होने वाले सूती कपड़े के निर्यात में ज़बरदस्त गिरावट आई। उपनिवेशों में विदेशी उत्पादों को हटाकर स्थानीय उद्योगपतियों ने घरेलू बाज़ारों पर क़ब्ज़ा कर लिया और धीरे-धीरे अपनी स्थिति मज़बूत बना ली।

5.1 लघु उद्योगों की बहुतायत

हालाँकि युद्ध के बाद फ़ैक्ट्री उद्योगों में लगातार इज़ाफ़ा हुआ लेकिन अर्थव्यवस्था में विशाल उद्योगों का हिस्सा बहुत छोटा था। उनमें से ज़्यादातर – 1911 में 67 प्रतिशत – बंगाल और बंबई में स्थित थे। बाकी पूरे देश में छोटे स्तर के उत्पादन का ही दबदबा रहा। पंजीकृत फ़ैक्ट्रियों में कुल औद्योगिक श्रम शक्ति का बहुत छोटा हिस्सा ही काम करता था। यह संख्या 1911 में 5 प्रतिशत और 1931 में 10 प्रतिशत थी। बाकी मज़दूर गली-मोहल्लों में स्थित छोटी-छोटी वर्कशॉप और घरेलू इकाइयों में काम करते थे।

कुछ मामलों में तो बीसवीं सदी के दौरान हाथ से होने वाले उत्पादन में दरअसल इज़ाफ़ा हुआ था। यह बात हथकरघा क्षेत्र के बारे में भी सही है जिसकी हमने पीछे चर्चा की थी। सस्ते मशीन-निर्मित धागे ने उन्नीसवीं सदी में कताई उद्योग को तो खत्म कर दिया था लेकिन तमाम समस्याओं के बावजूद बुनकर अपना व्यवसाय किसी तरह चलाते रहे। बीसवीं सदी में हथकरघों पर बने कपड़े के उत्पादन में लगातार सुधार हुआ। 1900 से 1940 के बीच यह तीन गुना हो चुका था।

चित्र 23 – हाथ से बुना कपड़ा।
हाथ से बुने कपड़े के महीन डिज़ाइन की मिलों में नक़ल नहीं की जा सकती थी।

ऐसा कैसे हुआ?

इसके पीछे आंशिक रूप से तकनीकी बदलावों का हाथ था। अगर लागत में बहुत ज़्यादा इज़ाफ़ा न हो और उत्पादन बढ़ सकता हो तो हाथ से काम करने वालों को नयी तकनीक अपनाने में कोई परेशानी नहीं होती। इसलिए, बीसवीं सदी के दूसरे दशक तक आते-आते हम ऐसे बुनकरों को देखते हैं जो **फ़्लाई शटल** वाले करघों का इस्तेमाल करते थे। इससे कामगारों की उत्पादन क्षमता बढ़ी, उत्पादन तेज़ हुआ और श्रम की माँग में कमी आई। 1941 तक भारत में 35 प्रतिशत से ज़्यादा हथकरघों में फ़्लाई शटल लगे होते थे। त्रावणकोर, मद्रास, मैसूर, कोचीन, बंगाल आदि क्षेत्रों में तो ऐसे हथकरघे 70-80 प्रतिशत तक थे। इसके अलावा भी कई छोटे-छोटे सुधार किए गए जिनसे बुनकरों को अपनी उत्पादकता बढ़ाने और मिलों से मुक़ाबला करने में मदद मिली।

नए शब्द

फ़्लाई शटल : यह रस्सियों और पुलियों के ज़रिए चलने वाला एक यांत्रिक औज़ार है जिसका बुनाई के लिए इस्तेमाल किया जाता है। यह क्षैतिज धागे (ताना–the weft) को लम्बवत् धागे (बाना–the warp) में पिरो देती है। फ़्लाई शटल के आविष्कार से बुनकरों को बड़े करघे चलाना और चौड़े अरज का कपड़ा बनाने में काफ़ी मदद मिली।

मिलों के साथ प्रतिस्पर्धा का मुक़ाबला कर पाने के मामले में कुछ बुनकर औरों से बेहतर स्थिति में थे। बुनकरों में से कुछ मोटा कपड़ा बनाते थे जबकि कुछ महीन क़िस्म के कपड़े बुनते थे। मोटे कपड़े को मुख्य रूप से गरीब ही खरीदते थे और उसकी माँग में भारी उतार-चढ़ाव आते थे। खराब फ़सल और अकाल के समय जब ग्रामीण ग़रीबों के पास खाने को कुछ नहीं होता था और नकद आय के साधन खत्म हो जाते थे तो वे कपड़ा नहीं खरीद सकते थे। बेहतर क़िस्म के कपड़े की माँग खाते-पीते तबक़े में ज़्यादा थी। उसमें उतार-चढ़ाव कम आते थे। जब ग़रीब भूखों मर रहे होते थे तब भी अमीर यह कपड़ा खरीद सकते थे। अकालों से बनारसी या बालूचरी साड़ियों की बिक्री पर असर नहीं पड़ता था। वैसे भी, जैसा कि आप देख चुके है, मिल विशेष प्रकार की बुनाई की नक़ल नहीं कर सकते थे। बुने हुए बॉर्डर वाली साड़ियों या मद्रास की प्रसिद्ध लुंगियों की जगह ले लेना मिलों के लिए आसान नहीं था।

ऐसा भी नहीं है कि बीसवीं सदी में भी उत्पादन बढ़ाते जा रहे बुनकरों व अन्य दस्तकारों को हमेशा फ़ायदा ही हो रहा था। उनकी ज़िंदगी बहुत कठोर थी। उन्हें दिन-रात काम करना पड़ता था। अकसर पूरा परिवार-बच्चे, बूढ़े, औरतें-उत्पादन के किसी न किसी काम में हाथ बढ़ाता था। लेकिन ये फ़ैक्ट्रियों के युग में अतीत के अवशेष भर नहीं थे। उनका जीवन और श्रम औद्योगीकरण की प्रक्रिया का अभिन्न अंग थे।

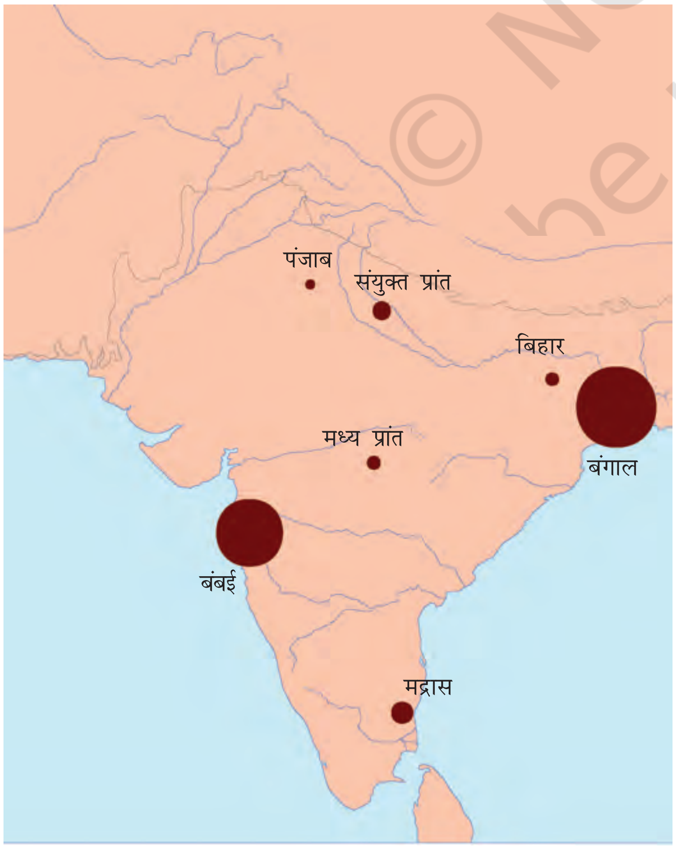

चित्र 24 – भारत में बड़े पैमाने के उद्योगों वाले इलाक़े, 1931
चित्र में बने गोले विभिन्न क्षेत्रों में उद्योगों के आकार को इंगित करते हैं।

© NCERT not to be republished

6 वस्तुओं के लिए बाज़ार

हम देख चुके हैं कि किस तरह ब्रिटिश निर्माताओं ने भारतीय बाज़ार पर क़ब्ज़े के लिए प्रयास किया और किस तरह भारतीय बुनकरों व दस्तकारों, व्यापारियों व उद्योगपतियों ने औपनिवेशिक नियंत्रण का विरोध किया, आयात शुल्क सुरक्षा के लिए माँग उठाई, अपने लिए जगह बनाई और अपने माल के बाज़ार को फैलाने का प्रयास किया।

जब नयी चीज़ें बनती हैं तो लोगों को उन्हें खरीदने के लिए प्रेरित भी करना पड़ता है। लोगों को लगना चाहिए कि उन्हें उस उत्पाद की ज़रूरत है। इसके लिए क्या किया गया?

नए उपभोक्ता पैदा करने का एक तरीक़ा विज्ञापनों का है। जैसा कि आप जानते हैं, विज्ञापन विभिन्न उत्पादों को जरूरी और वांछनीय बना लेते हैं। वे लोगों की सोच बदल देते हैं और नयी ज़रूरतें पैदा कर देते हैं। आज हम एक ऐसी दुनिया में हैं जहाँ चारों तरफ़ विज्ञापन छाए हुए हैं। अखबारों, पत्रिकाओं, होर्डिंग्स, दीवारों, टेलीविज़न के परदे पर, सब जगह विज्ञापन छाए हुए हैं। लेकिन अगर हम इतिहास में पीछे मुड़कर देखें तो पता चलता है कि औद्योगीकरण की शुरुआत से ही विज्ञापनों ने विभिन्न उत्पादों के बाज़ार को फैलाने में और एक नयी उपभोक्ता संस्कृति रचने में अपनी भूमिका निभाई है।

जब मैनचेस्टर के उद्योगपतियों ने भारत में कपड़ा बेचना शुरू किया तो वे कपड़े के बंडलों पर लेबल लगाते थे। लेबल का फ़ायदा यह होता था कि खरीदारों को कंपनी का नाम व उत्पादन की जगह पता चल जाती थी। लेबल ही चीज़ों की गुणवत्ता का प्रतीक भी था। जब किसी लेबल पर मोटे अक्षरों में 'मेड इन मैनचेस्टर' लिखा दिखाई देता तो खरीदारों को कपड़ा खरीदने में किसी तरह का डर नहीं रहता था।

चित्र 25 – ग्राइपवॉटर का कैलेंडर, एम.वी. धुरंधर का चित्र, 1928
बच्चों की चीज़ों का प्रचार करने के लिए बाल कृष्ण की छवि का सबसे ज़्यादा इस्तेमाल किया जाता था।

चित्र 26 (क)

चित्र 26 (ख)

चित्र 26 (क) – मैनचेस्टर के लेबल, बीसवीं सदी का प्रारंभ।
आयातित कपड़ों के लेबलों पर असंख्य भारतीय देवी-देवताओं – कार्तिक, लक्ष्मी, सरस्वती – को चित्रित किया जाता था जो संबंधित वस्तु की गुणवत्ता को दर्शाने का प्रयास था।
चित्र 26 (ख) – मैनचेस्टर के लेबल पर महाराजा रणजीत सिंह का चित्र।
उत्पाद के प्रति सम्मान पैदा करने हेतु ऐतिहासिक व्यक्तित्वों का इस्तेमाल किया जा रहा था।

लेबलों पर सिर्फ़ शब्द और अक्षर ही नहीं होते थे। उन पर तस्वीरें भी बनी होती थीं जो अकसर बहुत सुंदर होती थीं। अगर हम पुराने लेबलों को देखें तो उनके निर्माताओं की सोच, उनके हिसाब-किताब और लोगों को आकर्षित करने के उनके तरीक़ों का अंदाज़ा लगा सकते हैं।

इन लेबलों पर भारतीय देवी-देवताओं की तसवीरें प्राय: होती थीं। देवी-देवताओं की तसवीर के बहाने निर्माता ये दिखाने की कोशिश करते थे कि ईश्वर भी चाहता है कि लोग उस चीज़ को खरीदें। कृष्ण या सरस्वती की तसवीरों का फ़ायदा ये होता था कि विदेशों में बनी चीज़ भी भारतीयों को जानी-पहचानी सी लगती थी।

उन्नीसवीं सदी के आखिर में निर्माता अपने उत्पादों को बेचने के लिए कैलेंडर छपवाने लगे थे। अखबारों और पत्रिकाओं को तो पढ़े-लिखे लोग ही समझ सकते थे लेकिन कैलेंडर उनको भी समझ में आ जाते थे जो पढ़ नहीं सकते थे। चाय की दुकानों, दफ़्तरों व मध्यवर्गीय घरों में ये कैलेंडर लटके रहते थे। जो इन कैलेंडरों को लगाते थे वे विज्ञापन को भी हर रोज, पूरे साल देखते थे। इन कैलेंडरों में भी नए उत्पादों को बेचने के लिए देवताओं की तसवीर होती थी।

देवताओं की तसवीरों की तरह महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों, सम्राटों व नवाबों की तस्वीरें भी विज्ञापनों व कैलेंडरों में खूब इस्तेमाल होती थीं। इनका संदेश अकसर यह होता था : अगर आप इस शाही व्यक्ति का सम्मान करते हैं तो इस उत्पाद का भी सम्मान कीजिए; अगर इस उत्पाद को राजा इस्तेमाल करते हैं या उसे शाही निर्देश से बनाया गया है तो उसकी गुणवत्ता पर सवाल खड़ा नहीं किया जा सकता।

जब भारतीय निर्माताओं ने विज्ञापन बनाए तो उनमें राष्ट्रवादी संदेश साफ़ दिखाई देता था। इनका आशय यह था कि अगर आप राष्ट्र की परवाह करते हैं तो उन चीज़ों को खरीदिए जिन्हें भारतीयों ने बनाया है। ये विज्ञापन स्वदेशी के राष्ट्रवादी संदेश के वाहक बन गए थे।

निष्कर्ष

ज़ाहिर है कि उद्योगों के युग में बड़े-बड़े प्रौद्योगिकीय बदलाव आए हैं, फ़ैक्ट्रियों का उदय हुआ है और नयी औद्योगिक श्रमशक्ति अस्तित्व में आई है। लेकिन जैसा कि आपने देखा है, इस युग में हाथ से बनने वाली चीज़ें और छोटे पैमाने का उत्पादन भी औद्योगिक भूदृश्य का एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा रहा है।

चित्र 1 और 2 को दोबारा देखिए। अब बताइए कि ये छवियाँ क्या दर्शाती हैं।

चित्र 27 - सनलाइट साबुन का कैलेंडर, 1934
यहाँ भगवान विष्णु आसमान से रोशनी लाते दिखाए गए हैं।

चित्र 28 - एक भारतीय मिल में बने कपड़े का लेबल।
इसमें एक देवी अहमदाबाद के मिल में बना कपड़ा दान कर रही हैं और लोगों से भारत में बने कपड़े के इस्तेमाल का आह्वान कर रही हैं।

संक्षेप में लिखें

1. निम्नलिखित की व्याख्या करें –
   (क) ब्रिटेन की महिला कामगारों ने स्पिनिंग जेनी मशीनों पर हमले किए।
   (ख) सत्रहवीं शताब्दी में यूरोपीय शहरों के सौदागर गाँवों में किसानों और कारीगरों से काम करवाने लगे।
   (ग) सूरत बंदरगाह अठारहवीं सदी के अंत तक हाशिये पर पहुँच गया था।
   (घ) ईस्ट इंडिया कंपनी ने भारत में बुनकरों पर निगरानी रखने के लिए *गुमाश्तों* को नियुक्त किया था।
2. प्रत्येक वक्तव्य के आगे 'सही' या 'गलत' लिखें –
   (क) उन्नीसवीं सदी के आखिर में यूरोप की कुल श्रम शक्ति का 80 प्रतिशत तकनीकी रूप से विकसित औद्योगिक क्षेत्र में काम कर रहा था।
   (ख) अठारहवीं सदी तक महीन कपड़े के अंतर्राष्ट्रीय बाज़ार पर भारत का दबदबा था।
   (ग) अमेरिकी गृहयुद्ध के फलस्वरूप भारत के कपास निर्यात में कमी आई।
   (घ) फ़्लाई शटल के आने से हथकरघा कामगारों की उत्पादकता में सुधार हुआ।
3. पूर्व-औद्योगीकरण का मतलब बताएँ।

संक्षेप में लिखें

चर्चा करें

1. उन्नीसवीं सदी के यूरोप में कुछ उद्योगपति मशीनों की बजाय हाथ से काम करने वाले श्रमिकों को प्राथमिकता क्यों देते थे।
2. ईस्ट इंडिया कंपनी ने भारतीय बुनकरों से सूती और रेशमी कपड़े की नियमित आपूर्ति सुनिश्चित करने के लिए क्या किया।
3. कल्पना कीजिए कि आपको ब्रिटेन तथा कपास के इतिहास के बारे में विश्वकोश (Encyclopaedia) के लिए लेख लिखने को कहा गया है। इस अध्याय में दी गई जानकारियों के आधार पर अपना लेख लिखिए।
4. पहले विश्व युद्ध के समय भारत का औद्योगिक उत्पादन क्यों बढ़ा?

चर्चा करें

परियोजना कार्य

अपने क्षेत्र में किसी एक उद्योग को चुनकर उसके इतिहास का पता लगाएँ। उसकी प्रौद्योगिकी किस तरह बदली? उसमें मज़दूर कहाँ से आते हैं? उसके उत्पादों का विज्ञापन और मार्केटिंग किस तरह किया जाता है? उस उद्योग के इतिहास के बारे में उसके मालिकों और उसमें काम करने वाले कुछ मज़दूरों से बात करके देखिए।

परियोजना कार्य

© NCERT not to be republished

मुद्रण संस्कृति और आधुनिक दुनिया

1067CH05

मुद्रित या छपी हुई सामग्री के बग़ैर दुनिया की कल्पना हमारे लिए कितनी मुश्किल है! हम अपने चारों तरफ़ जहाँ नज़र दौड़ाएँ, हमें कोई न कोई छपी हुई चीज़ दिखाई देगी: किताबें, पत्र-पत्रिकाएँ, अख़बार, मशहूर तसवीरों की नक़लें, मेज़ पर पड़े नाटक के प्रोग्राम, सरकारी सूचनाएँ, कैलेंडर, डायरी, सड़क के किनारे विज्ञापन और सिनेमा के पोस्टर, आदि-आदि। हम छपा हुआ साहित्य पढ़ते हैं, पेंटिंग देखते हैं, अख़बार पढ़ते हैं, और सार्वजनिक दुनिया में चल रहे विवादों का जायज़ा लेते हैं। हम मुद्रित दुनिया के अस्तित्व को मानकर चलते हैं, यह सोचने की भी ज़रूरत नहीं पड़ती कि छपाई के पहले भी एक दुनिया थी। हम शायद ही महसूस करते हैं कि छपाई का अपना एक इतिहास है, और इस इतिहास ने हमारे समकालीन ज़माने को आकार दिया है। यह इतिहास क्या है? समाज में मुद्रित सामग्री कब से चलनी शुरू हुई? आधुनिक दुनिया को बनाने में इसकी क्या भूमिका थी?

इस अध्याय में हम मुद्रण के इसी इतिहास को देखेंगे-कैसे यह पूर्वी एशिया से शुरू होकर यूरोप और भारत में फैला। हम मुद्रण तकनीक के प्रसार और प्रभाव को सामाजिक जीवन में आए बदलाव से जोड़कर समझने की कोशिश करेंगे।

NCERT republished

चित्र 1 – प्रिंट के आने से पहले पुस्तक-निर्माण, अख़लाक़-ए-नसीरी, 1595, से।

भारत का एक शाही वर्कशॉप-भारत में छपाई आने से काफ़ी पहले। यहाँ पर पाठ को पहले बोलकर लिखाया जा रहा है, फिर तस्वीर बनाई जा रही है। पुस्तक-निर्माण में सुलेखन और चित्रकारी का बहुत महत्त्व था। छापेख़ाने के आने के बाद इन कलाओं का क्या हुआ, यह सोचने लायक है।

1 शुरुआती छपी किताबें

मुद्रण की सबसे पहली तकनीक चीन, जापान और कोरिया में विकसित हुई। यह छपाई हाथ से होती थी। तक़रीबन 594 ई. से चीन में स्याही लगे काठ के ब्लॉक या तख़्ती पर काग़ज़ को रगड़कर किताबें छापी जाने लगी थीं। चूँकि पतले, छिद्रित काग़ज़ के दोनों तरफ़ छपाई संभव नहीं थी, इसलिए पारंपरिक चीनी किताब 'एकॉर्डियन' शैली में, किनारों को मोड़ने के बाद सिल कर बनाई जाती थी। किताबों का सुलेखन या **ख़ुशनवीसी** करनेवाले लोग दक्ष सुलेखक या ख़ुशख़त होते थे, जो हाथ से बड़े सुंदर-सुडौल अक्षरों में सही-सही कलात्मक लिखाई करते थे।

नए शब्द

ख़ुशनवीसी : सुलेखन (Calligraphy)

एक लंबे अरसे तक मुद्रित सामग्री का सबसे बड़ा उत्पादक चीनी राजतंत्र था। सिविल सेवा परीक्षा से नियुक्त चीन की नौकरशाही भी विशालकाय थी, तो चीनी राजतंत्र इन परीक्षाओं के लिए बड़ी तादाद में किताबें छपवाता था। सोलहवीं सदी में परीक्षा देने वालों की तादाद बढ़ी, लिहाज़ा, छपी किताबों की मात्रा भी उसी अनुपात में बढ़ गई।

सत्रहवीं सदी तक आते-आते चीन में शहरी संस्कृति के फलने-फूलने से छपाई के इस्तेमाल में भी विविधता आई। अब मुद्रित सामग्री के उपभोक्ता सिर्फ़ विद्वान और अधिकारी नहीं रहे। व्यापारी अपने रोज़मर्रा के कारोबार की जानकारी लेने के लिए मुद्रित सामग्री का इस्तेमाल करने लगे। पढ़ना एक शग़ल भी बन गया। नए पाठक वर्ग को काल्पनिक क़िस्से, कविताएँ, आत्मकथाएँ, शास्त्रीय साहित्यिक कृतियों के संकलन और रूमानी नाटक पसंद थे। अमीर महिलाओं ने भी पढ़ना शुरू किया और कुछ ने स्वरचित काव्य और नाटक भी छापे।

पढ़ने की यह नयी संस्कृति एक नयी तकनीक के साथ आई। उन्नीसवीं सदी के अंत में पश्चिमी शक्तियों द्वारा अपनी चौकियाँ स्थापित करने के साथ ही पश्चिमी मुद्रण तकनीक और मशीनी प्रेस का आयात भी हुआ। पश्चिमी शैली के स्कूलों की ज़रूरतों को पूरा करने वाला शंघाई प्रिंट-संस्कृति का नया केंद्र बन गया। हाथ की छपाई की जगह अब धीरे-धीरे मशीनी या यांत्रिक छपाई ने ले ली।

1.1 जापान में मुद्रण

चीनी बौद्ध प्रचारक 768-770 ई. के आसपास छपाई की तकनीक लेकर जापान आए। जापान की सबसे पुरानी, 868 ई. में छपी, पुस्तक *डायमंड सूत्र* है, जिसमें पाठ के साथ-साथ काठ पर खुदे चित्र हैं। तसवीरें अकसर कपड़ों, ताश के पत्तों और काग़ज़ के नोटों पर बनाई जाती थीं। मध्यकालीन जापान में कवि भी छपते थे और गद्यकार भी, और किताबें सस्ती और सुलभ थीं।

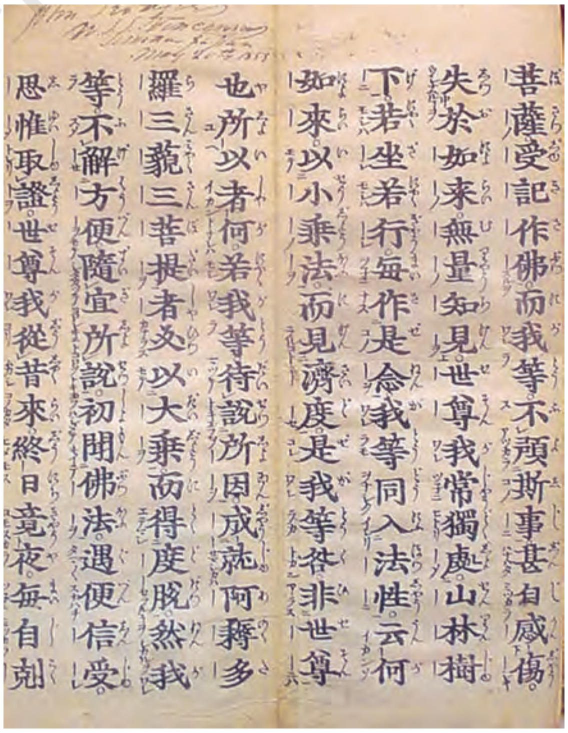

चित्र 2(क) – डायमंड सूत्र का एक पन्ना।

© NCERT not to be republished

अठारहवीं सदी के अंत में, एदो (बाद में जिसे तोक्यो के नाम से जाना गया) के शहरी इलाक़े की चित्रकारी में शालीन शहरी संस्कृति का पता मिलता है जिसमें हम चायघर के मजमों, कलाकारों, और तवायफ़ों को देख सकते हैं। हाथ से मुद्रित तरह-तरह की सामग्री – महिलाओं, संगीत के साज़ों, हिसाब-किताब, चाय अनुष्ठान, फूलसाज़ी, शिष्टाचार और रसोई पर लिखी किताबों – से पुस्तकालय एवं दुकानें अटी पड़ी थीं।

13वीं शताब्दी के मध्य में, *त्रिपीटका कोरियाना*, वुडब्लॉक्स (woodblocks) मुद्रण के रूप में बौद्ध ग्रंथों का कोरियाई संग्रह है। इन ग्रंथों को लगभग 80,000 वुडब्लॉक्स पर उकेरा गया था। इन्हें 2007 में यूनेस्को मेमोरी ऑफ़ द वर्ल्ड रजिस्टर में अंकित किया गया।

चित्र 2(ख) - त्रिपीटका कोरियाना

बॉक्स 1

कितागावा उतामारो, 1753 ई. में एदो में पैदा हुए उतामारो ने उकियो (तैरती दुनिया के चित्र) नाम की एक नयी चित्रकला शैली में अहम योगदान किए, जिनमें आम शहरी जीवन का चित्रण किया गया। इनकी छपी प्रतियाँ यूरोप और अमेरिका पहुँची और माने, मोने और वान गॉग जैसे चित्रकारों को प्रभावित किया। त्सुताया जुज़ाबूरो जैसे प्रकाशकों ने विषय चुनकर कलाकारों से उन पर चित्र बनाने का क़रार किया जाता फिर चित्रकार विषय की रूपरेखा बनाते थे। इसके बाद हुनरमंद वुडब्लॉक शिल्पी चित्रकार द्वारा बनाई गई रूपरेखा को तख़्ती पर चिपकाकर उसकी आकृति को उकेर लेते थे। इस प्रक्रिया में मूल आरेख तो ग़ायब हो जाता था, पर उसकी छपी नक़ल बच जाती थी।

चित्र 3 – कितागावा उतामारो की एक उकियो रचना।

चित्र 4 – सुबह का नज़ारा। रचयिता : शुन्मन कुबो, अठारहवीं सदी के अंत में।

© NCERT not to be republished

2 यूरोप में मुद्रण का आना

सदियों तक चीन से रेशम और मसाले रेशम मार्ग से यूरोप आते रहे थे। ग्यारहवीं सदी में चीनी काग़ज़ भी उसी रास्ते वहाँ पहुँचा। काग़ज़ ने कातिबों या मुंशियों द्वारा सावधानीपूर्वक लिखी गई पांडुलिपियों के उत्पादन को मुमकिन बनाया। फिर 1295 ई. में मार्को पोलो नामक महान खोजी यात्री चीन में काफ़ी साल तक खोज करने के बाद इटली वापस लौटा। जैसा कि आपने ऊपर पढ़ा, चीन के पास वुडब्लॉक (काठ की तख़्ती) वाली छपाई की तकनीक पहले से मौजूद थी। मार्को पोलो यह ज्ञान अपने साथ लेकर लौटा। फिर क्या था, इतालवी भी तख़्ती की छपाई से किताबें निकालने लगे और जल्द ही यह तकनीक बाक़ी यूरोप में फैल गई। मुद्रित किताबों को सस्ती, अश्लील माननेवाले कुलीन वर्गों और भिक्षु-संघों के लिए छपी किताबों के विलासी संस्करण अभी भी बेशक़ीमती **वेलम** (vellum) या चर्म-पत्र पर ही छपते थे। व्यापारी और विश्वविद्यालय के विद्यार्थी सस्ती मुद्रित किताबें ख़रीदते थे।

किताबों की माँग बढ़ने के साथ-साथ यूरोप-भर के पुस्तक-विक्रेता विभिन्न देशों में निर्यात करने लगे। अलग-अलग जगहों पर पुस्तक मेले लगने लगे। बढ़ती माँग की आपूर्ति के लिए हस्तलिखित पांडुलिपियों के उत्पादन के भी नए तरीक़े सोचे गए। अब सिर्फ़ अमीर लोगों के यहाँ सुलेखक या कातिब नहीं पाए जाते थे, बल्कि पुस्तक-विक्रेता भी अब उन्हें रोज़गार देने लगे। आम तौर पर एक विक्रेता के यहाँ 50 कातिब काम करते थे।

लेकिन किताबों की अबाध बढ़ती माँग हस्तलिखित पांडुलिपियों से पूरी नहीं होने वाली थी। नक़ल उतारना बेहद ख़र्चीला, समयसाध्य और श्रमसाध्य काम था। पांडुलिपियाँ अकसर नाज़ुक होती थीं, उनके लाने-ले जाने, रख-रखाव में तमाम मुश्किलें थीं। इसलिए उनका सर्कुलेशन-(चलन, गश्त) सीमित रहा तो किताबों की बढ़ती माँग के चलते वुडब्लॉक प्रिंटिंग (तख़्ती की छपाई) उत्तरोत्तर लोकप्रिय होता गया। पंद्रहवीं सदी की शुरुआत तक यूरोप में बड़े पैमाने पर तख़्ती की छपाई का इस्तेमाल करके कपड़े, ताश के पत्ते, और छोटी-छोटी टिप्पणियों के साथ धार्मिक चित्र छापे जा रहे थे।

ज़ाहिर है कि किताबें छापने के लिए इससे भी तेज़ और सस्ती मुद्रण तकनीक की ज़रूरत थी। ऐसा छपाई की एक नयी तकनीक के आविष्कार से ही संभव होता जो 1430 के दशक में स्ट्रैसबर्ग के योहान गुटेन्बर्ग ने अंततः कर दिखाया।

2.1 गुटेन्बर्ग और प्रिंटिंग प्रेस

गुटेन्बर्ग के पिता व्यापारी थे, और वह खेती की एक बड़ी रियासत में पल-बढ़कर बड़ा हुआ। वह बचपन से ही तेल और जैतून पेरने की मशीनें (press) देखता आया था। बाद में उसने पत्थर पर पॉलिश करने की कला सीखी, फिर सुनारी और अंत में उसने शीशे को इच्छित आकृतियों में गढ़ने

नए शब्द

वेलम (Vellum) : चर्म-पत्र या जानवरों के चमड़े से बनी लेखन की सतह।

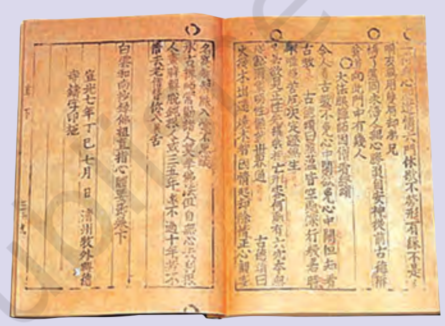

चित्र 4(अ) - जिक्जी, कोरिया

कोरिया की *जिक्जी* (*Jikji*) मूवेबल मेटल टाइप (Movable metal type) के साथ मुद्रित दुनिया की सबसे पुरानी मौजूदा पुस्तकों में से है। इसमें ज़ेन (Zen) बौद्ध धर्म की मुख्य विशेषताएँ हैं। पुस्तक में भारत, चीन और कोरिया के लगभग 150 बौद्ध भिक्षुओं का उल्लेख किया गया है। इसे 14वीं शताब्दी के अंत में मुद्रित किया गया था। पुस्तक का पहला खंड उपलब्ध नहीं है, दूसरा खंड फ्रांस की नेशनल लाइब्रेरी में उपलब्ध है। यह कार्य मुद्रण संस्कृति में एक महत्वपूर्ण तकनीकी परिवर्तन साबित हुआ। यही कारण है कि इसे 2001 में यूनेस्को मेमोरी ऑफ़ द वर्ल्ड रजिस्टर में अंकित किया गया।

गतिविधि

कल्पना कीजिए आप मार्को पोलो हैं। चीन में आपने प्रिंट का कैसा संसार देखा, यह बताते हुए एक चिट्ठी लिखें।

2019-20

में महारत हासिल कर ली। अपने ज्ञान और अनुभव का इस्तेमाल उसने अपने नए आविष्कार में किया। जैतून प्रेस ही प्रिंटिंग प्रेस का मॉडल या आदर्श बना, और साँचे का उपयोग अक्षरों की धातुई आकृतियों को गढ़ने के लिए किया गया। गुटेन्बर्ग ने 1448 तक अपना यह यंत्र मुकम्मल कर लिया था। उसने जो पहली किताब छापी, वह थी बाइबिल। तक़रीबन 180 प्रतियाँ बनाने में उसे तीन साल लगे। जो उस समय के हिसाब से काफ़ी तेज़ था।

पर यह नयी तकनीक हाथ से किताबें छापने की तकनीक की जगह पूरी तरह से नहीं ले पाई।

शुरू-शुरू में तो छपी किताबें भी अपने रंग-रूप और साज-सज्जा में हस्तलिखित पांडुलिपियों जैसी दिखती थीं। धातुई अक्षर हाथ की सजावटी शैली का अनुकरण करते थे। हाशिये पर फूल-पत्तियों की डिज़ाइन बनाई जाती थी, और चित्र अक्सर पेंट किए जाते थे। अमीरों के लिए बनाई किताबों में छपे पन्ने पर हाशिये की जगह बेल-बूटों के लिए ख़ाली छोड़ दी जाती थी। हर ख़रीदार अपनी रुचि के हिसाब से डिज़ाइन और पेंटर खुद तय करके उसे सँवार सकता था।

क़रीब सौ सालों के दरम्यान (1450-1550) यूरोप के ज़्यादातर देशों में छापेख़ाने लग गए थे। जर्मनी के प्रिंटर या मुद्रक दूसरे देश जाकर नए छापेख़ाने खुलवाया करते थे। छपाईख़ाने की संख्या में वृद्धि के साथ-साथ पुस्तक उत्पादन में कमाल की बढ़ोत्तरी हुई। पंद्रहवीं सदी के दूसरे हिस्से में यूरोप के बाज़ार में 2 करोड़ मुद्रित किताबें आईं। यह संख्या सोलहवीं सदी में 20 करोड़ हो गई। हाथ की छपाई की जगह यांत्रिक मुद्रण के आने पर ही मुद्रण क्रांति संभव हुई।

चित्र 5 – योहान गुटेन्बर्ग का चित्र (1584)।

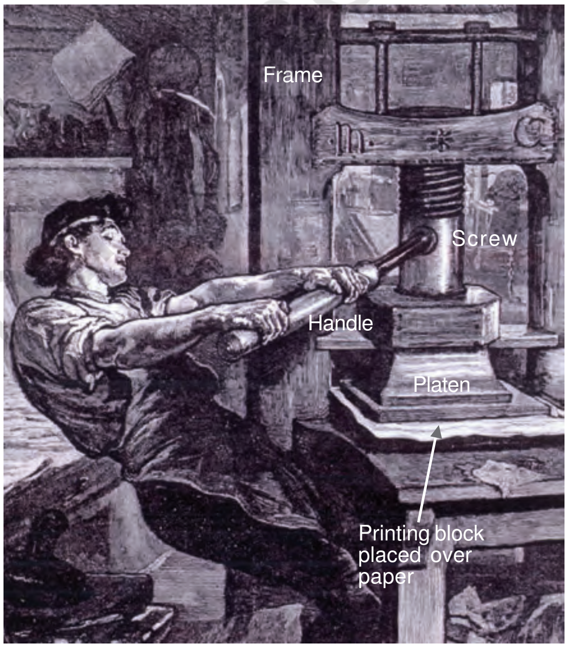

चित्र 6 – गुटेन्बर्ग प्रिंटिंग प्रेस।
*स्क्रू से लगा लंबा हैंडल देखें। इसकी मदद से स्क्रू घुमाकर **प्लाटेन** को गीले काग़ज़ पर दबा दिया जाता था। गुटेन्बर्ग ने रोमन वर्णमाला के तमाम 26 अक्षरों के लिए टाइप बनाए, और जुगत लगाई कि इन्हें इधर-उधर 'मूव' कराकर या घुमाकर शब्द बनाए जा सकें। लिहाज़ा, इसे 'मूवेबल टाइप प्रिंटिंग मशीन' के नाम से जाना गया और यही अगले 300 सालों तक छपाई की बुनियादी तकनीक रही। हर छपाई के लिए तख़्ती पर ख़ास आकार उकेरने की पुरानी तकनीक की तुलना में अब किताबों का इस तरह छापना निहायत तेज़ हो गया। गुटेन्बर्ग प्रेस एक घंटे में 250 पन्ने (एक साइड) छाप सकता था।*

नए शब्द

प्लाटेन : लेटरप्रेस छपाई में प्लाटेन एक बोर्ड होता है, जिसे काग़ज़ के पीछे दबाकर टाइप की छाप ली जाती थी। पहले यह बोर्ड काठ का होता था, बाद में इस्पात का बनने लगा।

चित्र 7 – यूरोप की पहली छपी किताब, गुटेन्बर्ग की बाइबिल से कुछ पन्ने।
गुटेन्बर्ग ने कुल 180 प्रतियाँ छापी थीं, पर उनमें से 50 ही बच पाई हैं। आइए गुटेन्बर्ग की बाइबिल के इन पन्नों को ध्यान से देखें। ये केवल नयी तकनीक की देन नहीं थे। इन्हें गुटेन्बर्ग प्रेस की धातुई टाइप से छापा ज़रूर गया था, पर इनके हाशिए पर कलाकारों ने हाथ से टीकाकारी और सुघड़ चित्रकारी की थी। कोई दो प्रतियाँ एक-जैसी नहीं थीं। हर प्रति का हर पन्ना अलग था। जहाँ पहली नज़र में वे एक-जैसे लगे भी, गौर से तुलना करने पर फ़र्क़ पता चल जाएगा। हर जगह पर कुलीन तबक़ों ने इस विशिष्टता को पसंद किया। जो उनके पास था, वह अनोखा था, वे यह दावा कर सकते थे, क्योंकि किसी और के पास उसकी हू-ब-हू नक़ल नहीं थी।
आप इबारत में देखेंगे कि कई जगहों पर अक्षरों के अंदर रंग भरे गए हैं। इसके दो फ़ायदे थे। पन्ना रंगीन हो जाता था, और साथ ही सारे पवित्र शब्द ज़्यादा दर्शनी और महत्त्वपूर्ण बन जाते थे। लेकिन हर पन्ने पर रंग हाथ से भरे जाते थे। गुटेन्बर्ग ने इबारत या पाठ को काले में छापा और बाद में रंग भरे जाने के लिए जगह छोड़ दी।

चित्र 8 – एक मुद्रक की वर्कशॉप, सोलहवीं सदी।
*इस तसवीर से पता चलता है कि सोलहवीं सदी में मुद्रक का कार्यस्थल कैसा दिखायी देता था। सारे काम एक ही छत के नीचे चल रहे हैं। दाएँ छोर पर अगले हिस्से में **कम्पोज़ीटर** काम कर रहे हैं। बाएँ सिरे पर **गैलीज़** तैयार किए जा रहे हैं और धातुई अक्षरों पर स्याही लगाई जा रही है। पृष्ठभूमि में प्रिंटर्स प्रेस के पेंच कस रहे हैं और उन्हीं के पास प्रूफ़रीडर काम में जुटे हैं। बिलकुल अगले भाग में तैयार माल पड़ा है। ये दो-दो पृष्ठ वाले छपे हुए पन्ने हैं जिनकी बाइंडिंग होनी है।*

नए शब्द

कम्पोज़ीटर : छपाई के लिए इबारत कम्पोज़ करने वाला व्यक्ति।

गैली : धातुई फ्रेम, जिसमें टाइप बिछाकर इबारत बनाई जाती थी।

3 मुद्रण क्रांति और उसका असर

मुद्रण क्रांति क्या थी? छापेख़ाने का आविष्कार महज़ तकनीकी दृष्टि से नाटकीय बदलाव की शुरुआत नहीं था। पुस्तक-उत्पादन के नए तरीक़ों ने लोगों की ज़िंदगी बदल दी: इसकी बदौलत सूचना और ज्ञान से, संस्था और सत्ता से उनका रिश्ता ही बदल गया। इससे लोकचेतना बदली और बदला चीज़ों को देखने का नज़रिया।

3.1 नया पाठक वर्ग

छापेख़ाने के आने से एक नया पाठक वर्ग पैदा हुआ। छपाई से किताबों की क़ीमत गिरी। किताब की हर प्रति के उत्पादन में जो वक़्त और श्रम लगता था, वह कम हो गया, और बड़ी तादाद में प्रतियाँ छापना आसान हो गया। बाज़ार किताबों से पट गई, पाठक वर्ग भी बृहत्तर होता गया।

किताबों तक पहुँच आसान होने से पढ़ने की एक नयी संस्कृति विकसित हुई। अब तक आमलोग मौखिक संसार में जीते थे। वे धार्मिक किताबों का वाचन सुनते थे, **गाथा-गीत** उनको पढ़कर सुनाए जाते थे, और क़िस्से भी उनके लिए बोलकर पढ़े जाते थे। ज्ञान का मौखिक लेन-देन ही होता था। लोगबाग समूह में ही दास्तान सुनते, या कोई आयोजन देखते, आए थे। आप आठवें अध्याय में देखेंगे कि वे तन्हाई में, या ख़ामोशी से, पढ़ने के आदी नहीं थे। छपाई क्रांति के पहले किताबें न केवल मँहगी थीं, बल्कि उन्हें पर्याप्त मात्रा में छापना भी असंभव था। अब किताबें समाज के व्यापक तबक़ों तक पहुँच सकती थीं। अगर पहले की जनता श्रोता थी, तो कह सकते हैं कि अब पाठक-जनता अस्तित्व में आ गई थी।

लेकिन यह संक्रमण सरल नहीं था। किताबें सिर्फ़ साक्षर ही पढ़ सकते थे और यूरोप के अधिकांश देशों में बीसवीं सदी तक साक्षरता की दर सीमित थी। प्रकाशकों के लिए सवाल था कि लोगों में छपी किताब के प्रति दिलचस्पी कैसे जगाएँ? इसके लिए उन्हें मुद्रित कृति की व्यापक पहुँच का ध्यान रखना था: जो नहीं पढ़ पाते थे, वे भी बोलकर पढ़े गए को सुनकर उसका लुत्फ़ तो उठाते ही थे। इसलिए मुद्रकों ने लोकगीत और लोककथाएँ छापनी शुरू कर दीं, और ऐसी किताबें आमतौर पर तसवीरों से ख़ूब सजी-धजी यानी सचित्र होती थीं। फिर इन्हें सामूहिक ग्रामीण सभाओं में या शहरी **शराबघरों** में गाया-सुनाया जाता था।

इस तरह मौखिक संस्कृति मुद्रित संस्कृति में दाख़िल हुई, और छपी सामग्री मौखिक अंदाज़ में प्रसारित हुई। मौखिक और मुद्रित संस्कृतियों के बीच की विभाजक रेखा धुँधली पड़ गई। श्रोता और पाठक वर्ग एक-दूसरे में घुल-मिल गए।

गतिविधि

मान लीजिए आप नव-मुद्रित सस्ती किताबों का इश्तेहार देना चाहते हैं। अपनी दुकान के बाहर लगाने के लिए एक पोस्टर बनाएँ।

नए शब्द

गाथा-गीत (Ballad) : लोकगीत का ऐतिहासिक आख्यान, जिसे गाया या सुनाया जाता है।

शराबघर (Tavern) : वह जगह जहाँ लोग शराब पीने, खाने, दोस्तों से मिलने और बात-विचार के लिए आते थे।

© NCERT not to be republished

3.2 धार्मिक विवाद और प्रिंट का डर

छापेख़ाने से विचारों के व्यापक प्रचार-प्रसार और बहस-मुबाहिसे के द्वार खुले। स्थापित सत्ता के विचारों से असहमत होने वाले लोग भी अब अपने विचारों को छापकर उन्हें फैला सकते थे। छपे हुए संदेश के ज़रिए वे लोगों को अलग ढंग से सोचने के लिए मना सकते थे, या कोई कार्रवाई करने के लिए प्रेरित कर सकते थे। ज़ाहिर है कि इस बात का जीवन के कई क्षेत्रों में गंभीर महत्त्व था।

हर कोई मुद्रित किताब को लेकर खुश नहीं था, जिन्होंने इसका स्वागत भी किया, उनके मन में इसको लेकर कई डर थे। कई लोगों को छपी किताब के व्यापक प्रसार और छपे शब्द की सुगमता को लेकर यह आशंका थी कि न जाने इसका आमलोगों के ज़ेहन पर क्या असर हो। भय था कि अगर छपे हुए और पढ़े जा रहे पर कोई नियंत्रण न होगा तो लोगों में बाग़ी और अधार्मिक विचार पनपने लगेंगे। अगर ऐसा हुआ तो 'मूल्यवान' साहित्य की सत्ता ही नष्ट हो जाएगी। धर्मगुरुओं और सम्राटों तथा कई लेखकों एवं कलाकारों द्वारा व्यक्त की गई यह चिंता नव-मुद्रित और नव-प्रसारित साहित्य की व्यापक आलोचना का आधार बनी।

आइए, देखें कि जीवन के एक क्षेत्र-धर्म-में इसका क्या असर हुआ।

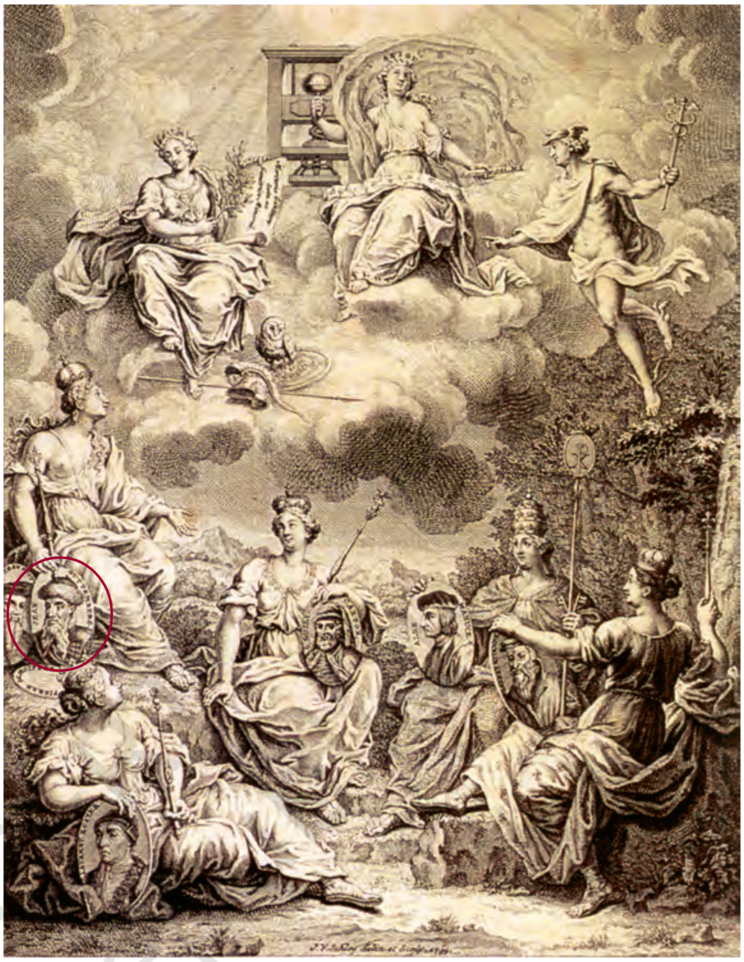

चित्र 9 – जे.वी. श्ले, लाम्प्रीमेरी (छापाख़ाना) 1739
यह आधुनिक यूरोप के प्रारंभ में प्रिंट के आगमन का उत्सव मनाते हुए छपे कई चित्रों में से एक है। देखें कि छापाख़ाना लेकर एक देवी स्वर्ग से उतर रही है। इस देवी के आजू-बाजू मिनर्वा (विद्या की देवी) और मर्करी (दूत-देव, विवेक का भी प्रतीक) हैं। तसवीर के आगे के हिस्से में अलग-अलग देशों के छः अग्रणी मुद्रकों की छवियाँ लिए औरतें हैं। बीच में बाईं ओर घेरे के अंदर गुटेन्बर्ग की तसवीर है।

धर्म-सुधारक मार्टिन लूथर ने रोमन कैथलिक चर्च की कुरीतियों की आलोचना करते हुए अपनी पिच्चानवे स्थापनाएँ लिखीं। इसकी एक छपी प्रति विटेनबर्ग के गिरजाघर के दरवाज़े पर टाँगी गई। इसमें लूथर ने चर्च को शास्त्रार्थ के लिए चुनौती दी थी। जल्द ही लूथर के लेख बड़ी तादाद में छापे और पढ़े जाने लगे। इसके नतीजे में चर्च में विभाजन हो गया और **प्रोटेस्टेंट धर्मसुधार** की शुरुआत हुई। कुछ ही हफ़्तों में न्यू टेस्टामेंट के लूथर के तर्जुमे या अनुवाद की 5000 प्रतियाँ बिक गईं, और तीन महीने के अंदर दूसरा संस्करण निकालना पड़ा। प्रिंट के प्रति तहेदिल से कृतज्ञ लूथर ने कहा, ''मुद्रण ईश्वर की दी हुई महानतम देन है, सबसे बड़ा तोहफ़ा।'' कई इतिहासकारों का यह खयाल है कि छपाई ने नया बौद्धिक माहौल बनाया और इसमें धर्म-सुधार आंदोलन के नए विचारों के प्रसार में मदद मिली।

नए शब्द

प्रोटेस्टेंट धर्मसुधार : सोलहवीं सदी यूरोप में रोमन कैथलिक चर्च में सुधार का आंदोलन। मार्टिन लूथर प्रोटेस्टेंट सुधारकों में से एक थे। इस आंदोलन से कैथलिक ईसाई मत के विरोध में कई धाराएँ निकलीं।

3.3 मुद्रण और प्रतिरोध

छपे हुए लोकप्रिय साहित्य के बल पर कम शिक्षित लोग धर्म की अलग-अलग व्याख्याओं से परिचित हुए। सोलहवीं सदी की इटली के एक

किसान मेनोकियो ने अपने इलाक़े में उपलब्ध किताबों को पढ़ना शुरू कर दिया था। उन किताबों के आधार पर उसने बाइबिल के नए अर्थ लगाने शुरू कर दिए, और उसने ईश्वर और सृष्टि के बारे में ऐसे विचार बनाए कि रोमन कैथलिक चर्च उससे क्रुद्ध हो गया। ऐसे **धर्म-विरोधी** विचारों को दबाने के लिए रोमन चर्च ने जब **इन्क्वीज़ीशन** (धर्म-द्रोहियों को दुरुस्त करने वाली संस्था) शुरू किया तो मेनोकियो को दो बार पकड़ा गया और आख़िरकार उसे मौत की सज़ा दे दी गई। धर्म के पास ऐसे पाठ और उस पर उठाए जा रहे सवालों से परेशान रोमन चर्च ने प्रकाशकों और पुस्तक-विक्रेताओं पर कई तरह की पाबंदियाँ लगाईं, और 1558 ई. से प्रतिबंधित किताबों की सूची रखने लगे।

नए शब्द

इन्क्वीज़ीशन (धर्म-अदालत) **:** विधर्मियों की शिनाख़्त करने और सज़ा देने वाली रोमन कैथलिक संस्था।

धर्म-विरोधी **:** इनसान या विचार जो चर्च की मान्यताओं से असहमत हो। मध्यकाल में चर्च विधर्मियों या धर्म-द्रोह के प्रति सख़्त था, उसे लगता था कि लोगों की आस्था, उनके विश्वास पर सिर्फ़ उसका अधिकार है, और उसकी बात ही अंतिम है।

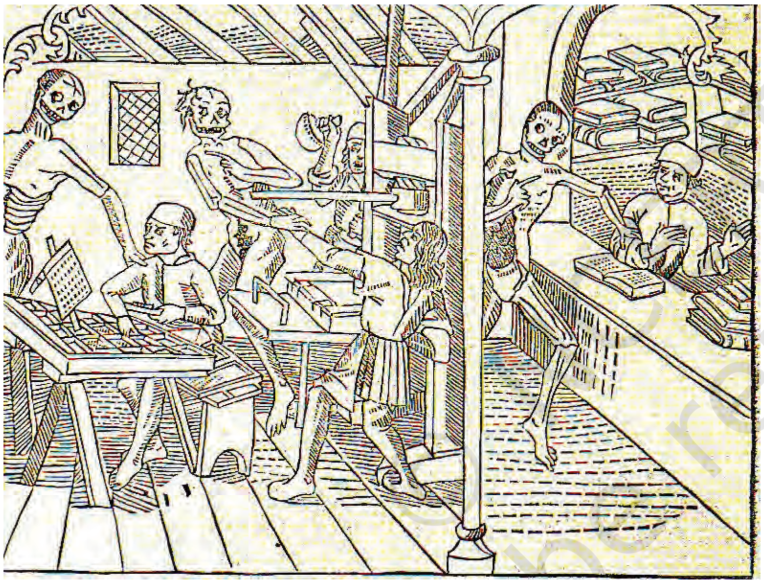

चित्र 10 – द मैकॅबर डान्स (वीभत्स नाच)।
इस सोलहवीं सदी की तसवीर में, छपाई का ख़ौफ़ किस नाटकीयता से पेश किया जा रहा था, यह देखा जा सकता है। इस बेहद दिलचस्प वुडकट (तख़्ती-छाप) तसवीर में मुद्रण के आगमन को दुनिया के अंत से जोड़ा गया है। मुद्रक के वर्कशॉप को मौत के नाच का मंच बताया गया है। मुद्रक और उसके मज़दूर कंकालों के नियंत्रण में हैं, और उनसे मनचाही चीज़ें छपवाते हैं।

चर्चा करें

छपाई से विरोधी विचारों के प्रसार को किस तरह बल मिलता था? संक्षेप में लिखें।

स्रोत-क

किताब का डर

लातिन के विद्वान और कैथलिक धर्मसुधारक इरैस्मस – जिसने कैथलिक धर्म की ज़्यादतियों की आलोचना की, पर लूथर से भी एक दूरी बनाकर रखी– प्रिंट को लेकर बहुत आशंकित था। उसने *एडेजेज़* (1508) में लिखा–

'किताबें भिनभिनाती मक्खियों की तरह हैं, दुनिया का कौन-सा कोना है, जहाँ ये नहीं पहुँच जातीं? हो सकता है कि जहाँ-तहाँ, एकाध जानने लायक चीज़ें भी बताएँ, लेकिन इनका ज़्यादा हिस्सा तो विद्वता के लिए हानिकारक ही है। बेकार ढेर हैं, क्योंकि अच्छी चीज़ों की अति भी हानिकारक ही है, इनसे बचना चाहिए... (मुद्रक) दुनिया को सिर्फ़ तुच्छ (जैसे कि मेरी लिखी) चीज़ों से ही नहीं पाट रहे, बल्कि बकवास, बेवकूफ़, सनसनीख़ेज़, धर्मविरोधी, अज्ञानी, और षड्यंत्रकारी किताबें छापते हैं, और उनकी तादाद ऐसी है कि मूल्यवान साहित्य का मूल्य ही नहीं रह जाता।'

स्रोत

4 पढ़ने का जुनून

पूरे सत्रहवीं और अठारहवीं सदी के दौरान यूरोप के ज़्यादातर हिस्सों में साक्षरता बढ़ती रही। अलग-अलग **संप्रदाय** के चर्चों ने गाँवों में स्कूल स्थापित किए और किसानों-कारीगरों को शिक्षित करने लगे। अठारहवीं सदी के अंत तक यूरोप के कुछ हिस्सों में तो साक्षरता दर 60 से 80 प्रतिशत तक हो गई थी। यूरोपीय देशों में साक्षरता और स्कूलों के प्रसार के साथ लोगों में पढ़ने का जैसे जुनून पैदा हो गया। लोगों को किताबें चाहिए थीं, इसलिए मुद्रक ज़्यादा से ज़्यादा किताबें छापने लगे।

नए पाठकों की रुचि का ध्यान रखते हुए क़िस्म-क़िस्म का साहित्य छपने लगा। पुस्तक विक्रेताओं ने गाँव-गाँव जाकर छोटी-छोटी किताबें बेचने वाले फेरीवालों को काम पर लगाया। ये किताबें मुख्यत: **पंचांग** के अलावा लोक-गाथाएँ और लोकगीतों की हुआ करती थीं। लेकिन जल्द ही मनोरंजन-प्रधान सामग्री भी आम पाठकों तक पहुँचने लगी। इंग्लैंड में *पेनी **चैपबुक्स*** या एकपैसिया किताबें बेचनेवालों को *चैपमेन* कहा जाता था। इन किताबों को ग़रीब तबक़े भी ख़रीदकर पढ़ सकते थे। फ्रांस में *बिब्लियोथीक ब्ल्यू* का चलन था, जो सस्ते काग़ज़ पर छपी और नीली जिल्द में बँधी छोटी किताबें हुआ करती थीं। इसके अलावा चार-पाँच पन्ने की प्रेम-कहानियाँ थीं, और अतीत की थोड़ी गाथाएँ थीं, जिन्हें 'इतिहास' कहते थे। आप देख सकते हैं कि अलग-अलग उद्देश्य और दिलचस्पी के हिसाब से किताबों के कई आकार-प्रकार थे।

अठारहवीं सदी के आरंभ से पत्रिकाओं का प्रकाशन शुरू हुआ, जिनमें समसामयिक घटनाओं की ख़बर के साथ मनोरंजन भी परोसा जाने लगा। अख़बार और पत्रों में युद्ध और व्यापार से जुड़ी जानकारी के अलावा दूर देशों की ख़बरें होती थीं।

उसी तरह वैज्ञानिक और दार्शनिक भी आम जनता की पहुँच के बाहर नहीं रहे। प्राचीन व मध्यकालीन ग्रंथ संकलित किए गए, और नक़्शों के साथ-साथ वैज्ञानिक ख़ाके भी बड़ी मात्रा में छापे गए। जब आइज़ैक न्यूटन जैसे वैज्ञानिकों ने अपने आविष्कार प्रकाशित करने शुरू किए तो उनके लिए विज्ञान-बोध में पगा एक बड़ा पाठक-वर्ग तैयार हो चुका था। टॉमस पेन, वॉल्तेयर और ज़्याँ ज़ाक रूसो जैसे दार्शनिकों की किताबें भी भारी मात्रा में छपने और पढ़ी जाने लगीं। ज़ाहिर है कि विज्ञान, तर्क और विवेकवाद के उनके विचार लोकप्रिय साहित्य में भी जगह पाने लगे।

4.1 दुनिया के ज़ालिमों, अब हिलोगे तुम!

अठारहवीं सदी के मध्य तक यह आम विश्वास बन चुका था कि किताबों के ज़रिए प्रगति और ज्ञानोदय होता है। कई सारे लोगों का मानना था कि किताबें दुनिया बदल सकती हैं, कि वे निरंकुशवाद और आतंकी राजसत्ता से

नए शब्द

संप्रदाय : किसी धर्म का एक उप-समूह।

पंचांग : चाँद, सूरज की गति, ज्वार-भाटा के समय और लोगों के दैनिक जीवन से जुड़ी कई अहम जानकारियाँ देता वार्षिक प्रकाशन।

चैपबुक (गुटका) : पॉकेट बुक के आकार की किताबों के लिए इस्तेमाल किया जाने वाला शब्द। इन्हें आमतौर पर फेरीवाले बेचते थे। ये सोलहवीं सदी की मुद्रण क्रांति के समय से लोकप्रिय हुए।

बॉक्स 2

1791 में लंदन के एक प्रकाशक जेम्स लॉकिंग्टन ने अपनी डायरी में यह लिखा–

पिछले बीस सालों में किताबों की बिक्री में आमतौर पर बेतहाशा वृद्धि हुई है। ग़रीब क़िस्म के किसान, या गाँव के लोग जो पहले अपनी शामें डायन-जोगिन, और भूत-प्रेत की कहानियाँ सुनते हुए बिताते थे.... अब अपनी संतानों द्वारा पढ़े गए रूमानी या अन्य क़िस्सों को सुनने का आनंद लेते हुए जाड़े की रातों को छोटी करने लगे हैं। अगर जॉन शहर जा रहा है, तो उसे सख़्त हिदायत की जाएगी कि वह *पेरेग्रिन पिकल्स ऐडवेंचर* लेकर आए... और अगर डॉली अंडे बेचने जा रही है तो उसे कहा जाता है कि वह *द हिस्ट्री ऑफ़ जोज़ेफ़ ऐण्ड्रूज़* लेकर ही वापस लौटे।

© NCERT not to be republished

समाज को मुक्ति दिलाकर ऐसा दौर लाएँगी जब विवेक और बुद्धि का राज होगा। अठारहवीं सदी फ़्रांस के एक उपन्यासकार लुई सेबेस्तिएँ मर्सिए ने घोषणा की, "छापाख़ाना प्रगति का सबसे ताक़तवर औज़ार है, इससे बन रही जनमत की आँधी में **निरंकुशवाद** उड़ जाएगा।" मर्सिए के उपन्यासों में नायक अकसर किताबें पढ़ने से बदल जाते हैं। वे किताबें घोंटते हैं, किताबों की दुनिया में जीते हैं, और इसी क्रम में ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। ज्ञानोदय को लाने और निरंकुशवाद के आधार को नष्ट करने में छापेख़ाने की भूमिका के बारे में आश्वस्त मर्सिए ने कहा, ''हे निरंकुशवादी शासकों, अब तुम्हारे काँपने का वक्त आ गया है! आभासी लेखक की क़लम के ज़ोर के आगे तुम हिल उठोगे!''

4.2 मुद्रण संस्कृति और फ़्रांसीसी क्रांति

कई इतिहासकारों का मानना है कि मुद्रण संस्कृति ने फ़्रांसीसी क्रांति के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ रचीं। क्या हम दोनों में ऐसा संबंध बना सकते हैं?

मूलत: तीन तरह के तर्क देखने लायक हैं:

पहला : छपाई के चलते ज्ञानोदय के चिंतकों के विचारों का प्रसार हुआ। उनके लेखन ने कुल मिलाकर परंपरा, अंधविश्वास और निरंकुशवाद की आलोचना पेश की। उन्होंने रीति-रिवाजों की जगह विवेक के शासन पर बल दिया, और माँग की कि हर चीज़ को तर्क और विवेक की कसौटी पर ही कसा जाए। उन्होंने चर्च की धार्मिक और राज्य की निरंकुश सत्ता पर प्रहार करके परंपरा पर आधारित सामाजिक व्यवस्था को दुर्बल कर दिया। वॉल्तेयर और रूसो के लेखन का व्यापक पाठक-वर्ग था, और उनके पाठक एक नए, आलोचनात्मक, सवालिया और तार्किक नज़रिये से दुनिया को देखने लगे थे।

दूसरा : छपाई ने वाद-विवाद-संवाद की नयी संस्कृति को जन्म दिया। सारे पुराने मूल्य, संस्थाओं और क़ायदों पर आम जनता के बीच बहस-मुबाहिसे हुए और उनके पुनर्मूल्यांकन का सिलसिला शुरू हुआ। तर्क की ताक़त से परिचित यह नयी 'पब्लिक' धर्म और आस्था को प्रश्नांकित करने का मोल समझ चुकी थी। इस तरह बनी 'सार्वजनिक दुनिया' से सामाजिक क्रांति के नए विचारों का सूत्रपात हुआ।

तीसरा : 1780 के दशक तक राजशाही और उसकी नैतिकता का मज़ाक उड़ाने वाले साहित्य का ढेर लग चुका था। इस प्रक्रिया में सामाजिक व्यवस्था को लेकर तमाम सवाल खड़े किए गए। कार्टूनों और कैरिकेचरों (व्यंग्य चित्रों) में यह भाव उभरता था कि जनता तो मुश्किलों में फँसी है जबकि राजशाही भोग-विलास में डूबी हुई है। भूमिगत घूमने वाले इस साहित्य ने लोगों को राजतंत्र के ख़िलाफ़ भड़काया।

हम इन तर्कों को कैसे समझें? इसमें तो कोई शक नहीं कि छपाई ने विचारों को फैलाने में मदद की। लेकिन याद रहे कि लोग-बाग़ हर तरह की सामग्री पढ़ते थे। एक तरफ़ वे अगर रूसो और वॉल्तेयर पढ़ रहे थे तो दूसरी तरफ़

स्रोत-ख

मर्सिए ने अपनी एक किताब में छपे शब्द की ताक़त को यूँ बयान किया–

'अगर किसी ने मुझे पढ़ते देखा होगा तो उसने मुझे उस प्यासे की तरह पाया होगा जो शुद्ध ताज़ा पानी मिलने पर गटगट पीने लगता है... बड़े एहतियात से लालटेन जलाने के बाद मैं खुद को किताबों में डुबो देता था। और वाक और अर्थ के प्रवाह में मैं पन्ना-दर-पन्ना बहता चला जाता था, अनायास और अनजान। ख़ामोशी के साये में घड़ियाल हर घंटे बजता चला जाता था, पर मुझे सुनाई नहीं पड़ता था। तेल ख़त्म होने से मेरी लालटेन की लौ पीली पड़ने लगती थी, पर मैं था कि पढ़ता जाता। मैं बत्ती उठाने की ज़हमत भी नहीं लेता था, कि मेरे आनंद में व्यवधान न पड़े। और वे नए विचार किस वेग से मेरे सिर मे घुसते थे! मेरी बुद्धि कैसे उन्हें आत्मसात करती थी!'

रॉबर्ट डार्नटन की किताब द *फ़ौरबिडेन बेस्ट-सेलर्स ऑफ़ प्री-रेवॉलूशनरी फ़्रांस*, 1995 से उद्धृत।

स्रोत

नए शब्द

निरंकुशवाद : राजकाज की ऐसी व्यवस्था, जिसमें किसी एक व्यक्ति को संपूर्ण शक्ति प्राप्त हो, और उस पर न क़ानूनी पाबंदी लगी हो, न ही संवैधानिक।

© NCERT not to be republished

चर्च और राज्य का प्रोपगैंडा या प्रचार भी। वे हर पढ़ी या देखी चीज़ से तो सीधे प्रभावित नहीं हो सकते थे। वे कुछ विचारों को स्वीकारते थे, तो कुछ को नकारते भी थे। फ़िर चीज़ों की अपने ढंग से व्याख्या भी करते थे। इस तरह, मुद्रण ने उनके मानस को सीधे तौर पर भले नहीं रचा हो, पर इसने अलग ढंग से सोचने की संभावनाएँ ज़रूर खोलीं।

गतिविधि

मान लीजिए कि आप क्रांति-पूर्व फ़्रांस में एक कार्टूनिस्ट या व्यंग्य-चित्रकार हैं। किसी परचे के लिए एक कार्टून बनाएँ।

चित्र 11 – फ़्रांसीसी क्रांति के पहले कुलीन वर्ग और आम जन, अठारहवीं सदी के अंत का एक कार्टून।
इस व्यंग्य-चित्र में दिखाया गाया है कि जनसाधारण-किसान, कारीगर और मज़दूर – किस तरह मुश्किल हालात में थे, जबकि ज़िंदगी के मज़े लेने वाला कुलीन वर्ग उनका दोहन करता है। इस तरह के कार्टूनों के चलन से क्रांति के पहले लोगों के दिल-दिमाग़ पर ख़ास असर हुआ।

चर्चा करें

कुछ इतिहासकार ऐसा क्यों मानते हैं कि मुद्रण संस्कृति ने फ़्रांसीसी क्रांति के लिए ज़मीन तैयार की?

2019-20

5 उन्नीसवीं सदी

उन्नीसवीं सदी में यूरोप ने जन-साक्षरता की दिशा में लंबी-लंबी छलाँगे लगाईं, जिसके बूते महिलाओं और बच्चों के रूप में बड़ी मात्रा में नया पाठकवर्ग तैयार हुआ।

5.1 बच्चे, महिलाएँ और मज़दूर

उन्नीसवीं सदी के आख़िर से प्राथमिक शिक्षा के अनिवार्य होने के चलते बच्चे, पाठकों की एक अहम श्रेणी बन गए। प्रकाशन उद्योग के लिए पाठ्य-पुस्तकों का उत्पादन महत्त्वपूर्ण हो गया। फ़्रांस में 1857 में सिर्फ़ बाल-पुस्तकें छापने के लिए एक प्रेस या मुद्रणालय स्थापित किया गया। इस प्रेस में पुरानी और नयी, दोनों तरह की परी-कथाओं और लोक-कथाओं का प्रकाशन किया गया। जर्मनी के ग्रिम बंधुओं ने बरसों लगाकर किसानों के बीच से लोक-कथाएँ जमा कीं। उनके द्वारा एकत्रित सामग्री का संपादन हुआ, फ़िर कहानियों को अंतत: 1812 के एक संकलन में छापा गया। बच्चों के लिए अनुपयुक्त सामग्री, या जो चीज़ें कुलीन वर्गों को अश्लील लगती थीं, उन्हें प्रकाशित संस्करण में शामिल नहीं किया जाता था। इस तरह पुरानी ग्रामीण लोककथाओं को नया रूप मिला—छपने से वे दर्ज तो हुईं, पर इस प्रक्रिया में बदल भी गईं।

चित्र 12 – पेनी या एकपैसिया मैग्ज़ीन का आमुख।
पेनी मैग्ज़ीन *का प्रकाशन इंग्लैंड में 1832-1850 के बीच* सोसायटी फ़ॉर द डिफ़्यूज़न ऑफ़ यूज़फुल नॉलेज *ने किया। यह मूलत: मज़दूर वर्ग के लिए थी।*

महिलाएँ पाठिका और लेखिका की भूमिका में ज़्यादा अहम हो गईं। *पेनी मैगज़ींस* या एकपैसिया पत्रिकाएँ (देखें, चित्र 12) ख़ास तौर पर उन्हीं के लिए होती थीं, वैसे ही जैसे कि सही चाल-चलन और गृहस्थी सिखाने वाली निर्देशिकाएँ। उन्नीसवीं सदी में जब उपन्यास छपने लगे तो महिलाएँ उनका अहम पाठक मानी गईं। मशहूर उपन्यासकारों में लेखिकाएँ अग्रणी थीं: जेन ऑस्टिन, ब्रॉण्ट बहनें, जॉर्ज इलियट, आदि। उनके लेखन से नयी नारी की परिभाषा उभरी : जिसका व्यक्तित्व सुदृढ़ था, जिसमें गहरी सूझ-बूझ थी, और जिसका अपना दिमाग़ था, अपनी इच्छाशक्ति थी।

सत्रहवीं सदी से ही किराए पर किताब देने वाले पुस्तकालय अस्तित्व में आ गए थे। उन्नीसवीं सदी के इंग्लैंड में ऐसे पुस्तकालयों का उपयोग सफ़ेद-कॉलर मज़दूरों, दस्तकारों और निम्नवर्गीय लोगों को शिक्षित करने के लिए किया गया। काम के दिन के छोटे होने के बाद मज़दूरों को अपने सुधार और आत्म-अभिव्यक्ति के लिए थोड़ा वक़्त मिलने लगा। उन्होंने बड़ी संख्या में राजनीतिक पर्चे, और आत्मकथाएँ लिखीं।

बॉक्स 3

यॉर्कशायर के एक मेकैनिक थॉमस वुड ने बताया कि वह पुराने अख़बार ख़रीदकर शाम के वक़्त आग की रोशनी में पढ़ता था, क्योंकि उसके पास मोमबत्ती के लिए पैसे नहीं होते थे। ग़रीबों की आत्मकथाओं से हमें पता चलता है कि वे मुश्किल हालात में पढ़ने के लिए जद्दोजहद करते थे: बीसवीं सदी के रूसी क्रांतिकारी लेखक मैक्सिम गोर्की की *मेरा बचपन* और *मेरे विश्वविद्यालय* इन संघर्षों की कहानियाँ हैं।

5.2 नए तकनीकी परिष्कार

अठारहवीं सदी के अंत तक प्रेस धातु से बनने लगे थे। पूरी उन्नीसवीं सदी के दौरान छापेख़ाने की तकनीक में लगातार सुधार हुए। उन्नीसवीं सदी के

मध्य तक न्यूयॉर्क के रिचर्ड एम.हो. ने शक्ति चालित बेलनाकार प्रेस को कारगर बना लिया था। इससे प्रति घंटे 8000 शीट या ताव छप सकते थे। सदी के अंत तक ऑफ़सेट प्रेस आ गया था, जिससे एक साथ छह रंग की छपाई मुमकिन थी। बीसवीं सदी के शुरू से ही, बिजली से चलनेवाले प्रेस के बल पर छपाई का काम बड़ी तेज़ी से होने लगे। एक-दो और चीज़ें हुईं। काग़ज़ डालने की विधि में सुधार हुआ, प्लेट की गुणवत्ता बेहतर हुई, स्वचालित पेपर-रील और रंगों के लिए फ़ोटो-विद्युतीय नियंत्रण भी काम में आने लगे। इस तरह कई छोटी-छोटी मशीनी इकाइयों में कुल सुधार की बदौलत छपे हुए पन्ने का रंग-रूप ही बदल गया।

मुद्रकों और प्रकाशकों ने अपने उत्पाद बेचने के नए गुर अपनाए। उन्नीसवीं सदी की पत्रिकाओं ने उपन्यासों को धारावाहिक छापा जिससे उपन्यास लिखने की एक ख़ास शैली विकसित हुई। इंग्लैंड में 1920 के दशक में लोकप्रिय किताबें एक सस्ती श्रृंखला–शिलिंग श्रृंखला–के तहत छापी गईं। किताबों की जिल्द का आवरण या डस्ट कवर भी बीसवीं सदी की तकनीकी नवइयत है। 1930 की आर्थिक मंदी के आने से प्रकाशकों को किताबों की बिक्री गिरने का भय हुआ। लिहाज़ा, पाठकों की जेब का ख़याल रखते हुए उन्होंने सस्ते पेपरबैक या अजिल्द संस्करण छापे।

गतिविधि

चित्र 13 को देखें। ऐसे विज्ञापनों का लोगों के मन पर क्या असर पड़ता होगा? क्या आपको लगता है कि छपी हुई चीज़ को देखकर हर व्यक्ति की एक-जैसी प्रतिक्रिया होती है?

चित्र 13 – इंग्लैंड के एक रेलवे स्टेशन पर लगे विज्ञापन, अल्फ्रेड कॉन्कानेन द्वारा बनाया गया लिथोग्राफ़, 1874
छपी हुई सूचनाएँ और इश्तेहार सड़कों की दीवारों, प्लैटफ़ॉर्म और सार्वजनिक इमारतों पर लगाए जाते थे।

6 भारत का मुद्रण संसार

आइए देखें कि भारत में छपाई कब शुरू हुई, और मुद्रण युग के पहले यहाँ सूचना और विचार कैसे लिखे जाते थे।

6.1 मुद्रण युग से पहले की पांडुलिपियाँ

भारत में संस्कृत, अरबी, फ़ारसी और विभिन्न क्षेत्रीय भाषाओं में हस्त-लिखित पांडुलिपियों की पुरानी और समृद्ध परंपरा थी। पांडुलिपियाँ ताड़ के पत्तों या हाथ से बने कागज़ पर नक़ल कर बनाई जाती थीं। कभी-कभी तो पन्नों पर बेहतरीन तसवीरें भी बनाई जाती थीं। फिर उन्हें उम्र बढ़ाने के ख़याल से तख़्तियों की जिल्द में या सिलकर बाँध दिया जाता था। उन्नीसवीं सदी के अंत तक, छपाई के आने के बाद भी, पांडुलिपियाँ छापी जाती रहीं।

लेकिन पांडुलिपियाँ नाज़ुक होती थीं, काफ़ी मँहगी भी। एक तो उन्हें बड़ी सावधानी से पकड़ना होता था, दूसरे, लिपियों के अलग-अलग तरीक़े से लिखे जाने के चलते उन्हें पढ़ना भी आसान नहीं था। इसलिए उनका व्यापक

चित्र 14 – जयदेव के गीत गोविंद के कुछ पन्ने, अठारहवीं सदी।
यह एकॉर्डियन शैली में हाथ से लिखी पांडुलिपि का एक नमूना है।

चित्र 15 – हाफ़िज़ के दीवान के कुछ पन्ने, 1824
चौदहवीं सदी के शायर हाफ़िज़ की संपूर्ण शायरी दीवान में संकलित है। पेज पर ख़ुशनवीसी, नक़्क़ाशी और डिज़ाइन देखें। लेटरप्रेस के आने के बाद भी इस तरह की पांडुलिपियाँ अमीरों के लिए बनाई जाती रहीं।

दैनिक इस्तेमाल नहीं होता था। हालाँकि पूर्व-औपनिवेशिक बंगाल में ग्रामीण क्षेत्रों में प्राथमिक पाठशालाओं का बड़ा जाल था, लेकिन विद्यार्थी आमतौर पर किताबें नहीं पढ़ते थे। गुरु याददाश्त से किताबें सुनाते थे, और विद्यार्थी उन्हें लिख लेते थे। इस तरह कई-सारे लोग बिना कोई किताब पढ़े साक्षर बन जाते थे।

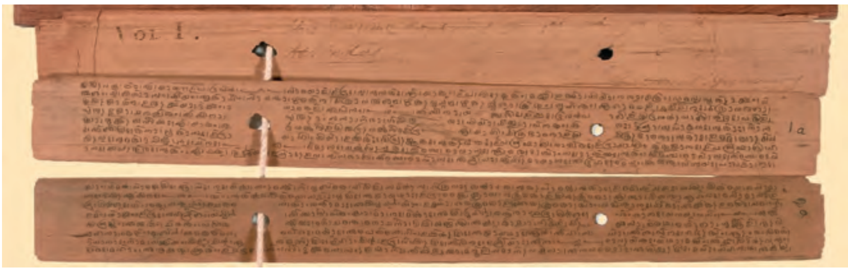

चित्र 16 – ऋग्वेद के कुछ पन्ने।
प्रिंट के आगमन के काफ़ी बाद तक हस्तलिखित पांडुलिपियाँ प्रकाशित की जाती रहीं। यह पांडुलिपि मलयालम भाषा में अठारहवीं सदी में बनाई गई।

6.2 छपाई भारत आई

प्रिंटिंग प्रेस पहले-पहल सोलहवीं सदी में भारत के गोवा में पुर्तगाली धर्म-प्रचारकों के साथ आया। जेसुइट पुजारियों ने कोंकणी सीखी और कई सारी पुस्तिकाएँ छापीं। 1674 ई. तक कोंकणी और कन्नड़ भाषाओं में लगभग 50 किताबें छप चुकी थीं। कैथलिक पुजारियों ने 1579 में कोचीन में पहली तमिल किताब छापी, और 1713 में पहली मलयालम किताब छापने वाले भी वही थे। डच प्रोटेस्टेंट धर्म-प्रचारकों ने 32 तमिल किताबें छापीं, जिनमें से कई पुरानी किताबों का अनुवाद थीं।

अंग्रेज़ी-भाषी प्रेस भारत में काफ़ी देर तक विकास नहीं कर पाया था, यद्यपि इंग्लिश ईस्ट इंडिया कंपनी ने सत्रहवीं सदी के अंत तक छापेख़ाने का आयात शुरू कर दिया था।

जेम्स ऑगस्टस हिक्की ने 1780 से *बंगाल गज़ट* नामक एक साप्ताहिक पत्रिका का संपादन शुरू किया, जिसने खुद को यूँ परिभाषित किया, 'हर किसी के लिए खुली एक व्यवसायिक पत्रिका, जो किसी के प्रभाव में नहीं है। यानी यह पत्रिका भारत में प्रेस चलानेवाले औपनिवेशिक शासन से आज़ाद, निजी अंग्रेज़ी उद्यम थी, और इसे अपनी स्वतंत्रता पर अभिमान था। हिक्की ढेर सारे विज्ञापन छापता था जिनमें दासों की बिक्री से जुड़े इश्तेहार भी शामिल थे। लेकिन साथ ही वह भारत में कार्यरत वरिष्ठ अंग्रेज़ अधिकारियों से जुड़ी गपबाज़ी भी छापता था। इससे नाराज़ होकर गवर्नर जेनरल वॉरेन हेस्टिंग्स ने हिक्की पर मुक़दमा कर दिया, और ऐसे सरकारी आश्रय-प्राप्त अख़बारों के प्रकाशन को प्रोत्साहित करना शुरू कर दिया जो औपनिवेशिक राज की छवि पर होते हमलों से इसकी रक्षा कर सकें। अठाहरवीं सदी के अंत तक कई-सारी पत्र-पत्रिकाएँ छपने लगीं। कुछ हिंदुस्तानी भी अपने अख़बार छापने लगे थे। ऐसे प्रयासों में पहला था राजा राममोहन राय के क़रीबी रहे गंगाधर भट्टाचार्य द्वारा प्रकाशित *बंगाल गज़ट*।

स्रोत-ग

विलियम बोल्ट्स नामक व्यक्ति को, 1768 ई. में भी, इस तरह की सूचना कलकत्ता के एक सार्वजनिक इमारत में टाँगने की ज़रूरत महसूस हुई–

'जनसाधारण के लिए : मि. बोल्ट्स पब्लिक को यह बताने के लिए इस तरीक़े का सहारा ले रहे हैं कि चूँकि शहर में छापेख़ाने की घोर कमी से नुक़सान होता है.....इसलिए वे उस व्यक्ति का हर संभव उत्साहवर्धन करेंगे,,, जो छपाई में माहिर हो।'

पर जल्द ही बोल्ट्स महोदय इंग्लैंड चले गए और यह वादा हवा में लटका रहा।

स्रोत

© NCERT not to be republished

7 धार्मिक सुधार और सार्वजनिक बहसें

जैसा कि आप जानते हैं, उन्नीसवीं सदी की शुरुआत से ही धार्मिक मसलों को लेकर बहसों का बाज़ार गर्म था। अलग-अलग समूह औपनिवेशिक समाज में हो रहे बदलावों से जूझते हुए, धर्म की अपनी-अपनी व्याख्या पेश कर रहे थे। कुछ तो मौजूदा रीति-रिवाजों की आलोचना करते हुए उनमें सुधार चाहते थे, जबकि कुछ अन्य समाज-सुधारकों के तर्कों के ख़िलाफ़ खड़े थे। ये सारे वाद-विवाद प्रिंट में, सरेआम पब्लिक में हुए। छपी हुई पुस्तिकाओं और अख़बारों ने न केवल नए विचारों का प्रचार-प्रसार किया बल्कि उन्होंने बहस की शक्ल भी तय की। इन बहसों में व्यापक जन-समुदाय भी हिस्सा ले सकता था, अपने मत ज़ाहिर कर सकता था। इस तरह के मत-मंतातर से नए विचार उभरे।

यह वह समय था जब समाज और धर्म-सुधारकों तथा हिंदू रूढ़िवादियों के बीच विधवा-दाह, एकेश्वरवाद, ब्राह्मण पुजारीवर्ग और मूर्ति-पूजा जैसे मुद्दों को लेकर तेज़ बहस ठनी हुई थी। बंगाल में जैसे-जैसे बहस चली, लगातार बढ़ती तादाद में पुस्तिकाओं और अख़बारों के ज़रिए तरह-तरह के तर्क समाज के बीच आने लगे। ज़्यादा से ज़्यादा लोगों तक पहुँचने के ख़याल से इन्हें आम बोलचाल की भाषा में छापा गया। राममोहन राय ने 1821 से *संवाद कौमुदी* प्रकाशित किया, और रूढ़िवादियों ने उनके विचारों से टक्कर लेने के लिए *समाचार चंद्रिका* का सहारा लिया। दो फ़ारसी अख़बार– *जाम-ए-जहाँ नामा* और *शम्सुल अख़बार* – भी 1882 में प्रकाशित हुए।

उत्तर भारत में **उलमा** मुस्लिम राजवंशों के पतन को लेकर चिंतित थे। उन्हें डर था कि कहीं औपनिवेशिक शासक धर्मांतरण को बढ़ावा न दें, या मुस्लिम क़ानून न बदल डालें। इससे निबटने के लिए उन्होंने सस्ते लिथोग्राफ़ी प्रेस का इस्तेमाल करते हुए धर्मग्रंथों के फ़ारसी या उर्दू अनुवाद छापे और धार्मिक अख़बार तथा गुटके निकाले। सन् 1867 में स्थापित देवबंद सेमिनरी ने मुसलमान पाठकों को रोज़मर्रा का जीवन जीने का सलीका और इस्लामी सिद्धांतों के मायने समझाते हुए हज़ारों **फ़तवे** जारी किए। पूरी उन्नीसवीं सदी के दौरान कई इस्लामी संप्रदाय और सेमिनरी पैदा हुए, धर्म को लेकर सबकी अपनी-अपनी व्याख्याएँ थीं, हर कोई अपना संप्रदाय बढ़ाना चाहता था और दूसरों के असर को काटना चाहता था।

हिंदुओं के बीच भी छपाई से ख़ास तौर पर स्थानीय भाषाओं में धाार्मिक पढ़ाई को काफ़ी बल मिला। तुलसीदास की सोलहवीं सदी की किताब *रामचरितमानस* का पहला मुद्रित संस्करण 1810 में कलकत्ता से प्रकाशित हुआ। उन्नीसवीं सदी के मध्य तक सस्ते लिथोग्राफ़ी संस्करणों से उत्तर भारत का बाज़ार पट गया। लखनऊ के नवल किशोर प्रेस और बंबई के श्री वेंकटेश्वर प्रेस में अनेक भारतीय भाषाओं में अनगिनत धार्मिक किताबें छपीं। मुद्रित और लाने-ले जाने में आसान होने के कारण आस्थावान इन्हें कहीं भी,

नए शब्द

उलमा : इस्लामी क़ानून और शरिया के विद्वान।

फ़तवा : अनिश्चय या असमंजस की स्थिति में, इस्लामी क़ानून जानने वाले विद्वान, सामान्यतः मुफ़्ती, के द्वारा की जानेवाली वैधानिक घोषणा।

किसी समय पढ़ सकते थे। इन्हे अनपढ़ लोगों की बड़ी भीड़ में बोल-बोल कर भी पढ़ा जा सकता था।

मतलब यह कि धार्मिक पुस्तकें बड़ी तादाद में व्यापक जन-समुदाय तक पहुँच रही थीं, जिसके चलते विभिन्न धर्मों के बीच, और उनके अंदर, बहस-मुबाहिसे, और वाद-विवाद-संवाद की नयी स्थिति बन गई थी।

लेकिन प्रिंट ने समुदाय के बीच सिर्फ़ मत-मतांतर ही नहीं पैदा किए, बल्कि इसने समुदायों को अंदर से, और विभिन्न हिस्सों को पूरे भारत से जोड़ने का काम भी किया।

स्रोत-घ

अख़बार क्यों?

'पूना के कृष्णाजी त्रिम्बक राणाडे मराठी का एक अख़बार निकालना चाहते हैं, जिसमें स्थानीय दिलचस्पी की तमाम उपयोगी ख़बरों को जगह मिल सके। इसमें सार्वजनिक उपयोगिता, वैज्ञानिक अन्वेषण के अलावा प्राक्-विद्या, सांख्यिकी, जिज्ञासाओं, देश के विभिन्न हिस्सों के बारे में आमतौर पर, और दक्कन पर ख़ासतौर पर जानकारियाँ होंगी... ऐसे तमाम लोगों से मदद और संरक्षण का निवेदन है, जो ज्ञान के प्रसार और जनकल्याण के इच्छुक हैं।'

बॉम्बे टेलीग्राफ़ एंड कोरियर, 6 जनवरी 1849

'देसी अख़बारों और राजनीतिक सभाओं की वही भूमिका होती है, जो इंग्लैंड के हाउस ऑफ़ कॉमन्स में विपक्ष की होती है। यानी कि वह सरकारी नीतियों की आलोचनात्मक समीक्षा कर, लोगों के हित साधने में अक्षम हिस्सों को निकालें और सुधार करें, तथा उनको तेज़ी से लागू करने का काम करें।

इन सभाओं को चाहिए कि वे देश के ख़ास मुद्दों पर नाना तरह की सूचनाएँ जमा करें और क्या संभव और वांछित सुधार हैं, वह बताएँ, इन कार्यों का काफ़ी असर होगा।'

नेटिव ओपिनियन, 3 अप्रैल, 1870

स्रोत

© NCERT not to be republished

8 प्रकाशन के नए रूप

छापेख़ाने से नए तरह के लेखन के लिए भूख जागी। जैसे-जैसे नए लोग पढ़ने लगे, छपे हुए पन्नों में अपनी ज़िंदगी, अपने तजुर्बों, अपने भोगे हुए रिश्तों को देखने की चाहत बलवती होती गई। यूरोप में विकसित उपन्यास नामक यह साहित्यिक विधा इन ज़रूरतों को पूरा करने में सक्षम थी। जल्दी ही इसने अपनी एक ख़ास भारतीय शक्ल और शैली अख़्तियार कर ली। अपने पाठकों को इसने अनुभव का नया संसार और मानव जीवन की विविधता का बोध प्रदान किया।

दूसरी तरह की साहित्यिक विधाएँ, जैसे-गीत, कहानियाँ, सामाजिक-राजनीतिक मसलों पर लेख, ये सब पाठकों की दुनिया का हिस्सा बन गए। अपने अलग-अलग तेवरों में इन्होंने इनसानी ज़िंदगी और अंतरंग भावनाओं, और उन सामाजिक-राजनीतिक नियमों पर बल दिया जिनसे इनका स्वरूप तय होता था।

उन्नीसवीं सदी के अंत तक, एक नयी तरह की दृश्य-संस्कृति भी आकार ले रही थी। छापेख़ानों की बढ़ती तादाद के साथ छवियों की कई नक़लें या प्रतियाँ अब बड़ी आसानी से बनाई जा सकती थीं। राजा रवि वर्मा जैसे चित्रकारों ने आम खपत के लिए तसवीरें बनाईं। काठ की तख़्ती पर चित्र उकेरने वाले ग़रीब दस्तकारों ने लैटरप्रेस छापेख़ानों के करीब अपनी दुकानें लगाईं, और मुद्रकों से काम पाने लगे। बाज़ार में सुलभ सस्ती तसवीरें और कैलेंडर ख़रीदकर ग़रीब भी अपने घरों एवं दफ़्तरों में सजाया करते थे। इन छपी तसवीरों ने आहिस्ता-आहिस्ता आधुनिकता और परंपरा, धर्म और राजनीति तथा समाज और संस्कृति के लोकप्रिय विचार-लोक को गढ़ना शुरू किया।

1870 के दशक तक पत्र-पत्रिकाओं में सामाजिक-राजनीतिक विषयों पर टिप्पणी करते हुए कैरिकेचर और कार्टून छपने लगे थे। कुछ में शिक्षित भारतीयों के पश्चिमी पोशाक और पश्चिमी अभिरुचियों का मज़ाक उड़ाया गया, जबकि कुछ अन्य में सामाजिक परिवर्तन को लेकर एक डर देखा गया। साम्राज्यवादी व्यंग्यचित्रों में राष्ट्रवादियों का मज़ाक उड़ाया जाता था, तो राष्ट्रवादी भी साम्राज्यवादी सत्ता पर निशाना साधने में पीछे नहीं रहे।

चित्र 17 – राजा ऋतुध्वज द्वारा असुरों के चंगुल से राजकुमारी मदलसा को बचाया जाना। राजा रवि वर्मा का चित्र।
राजा रवि वर्मा ने मिथकीय कहानियों को लेकर अनगिनत चित्र बनाए, जो उनके अपने, रवि वर्मा प्रेस, में छपती थीं।

8.1 महिलाएँ और मुद्रण

महिलाओं की ज़िंदगी और उनकी भावनाएँ बड़ी साफ़गोई और गहनता से लिखी जाने लगीं। इसलिए मध्यवर्गीय घरों में महिलाओं का पढ़ना भी पहले से बहुत ज़्यादा हो गया। उदारवादी पिता और पति अपने यहाँ औरतों को घर पर पढ़ाने लगे, और उन्नीसवीं सदी के मध्य में जब बड़े-छोटे शहरों में स्कूल बने तो उन्हें स्कूल भेजने लगे। कई पत्रिकाओं ने लेखिकाओं को जगह दी और उन्होंने नारी-शिक्षा की ज़रूरत को बार-बार रेखांकित किया। उनमें पाठ्यक्रम भी छपता था, और ज़रूरत के मुताबिक़ पाठ्य-सामग्री भी, जिसका इस्तेमाल घर बैठे स्कूली शिक्षा के लिए किया जा सकता था।

लेकिन सारे परिवार उदार-दिल नहीं थे। अनेक परंपरावादी हिंदू मानते थे कि पढ़ी-लिखी कन्याएँ विधवा हो जाती हैं, और इसी तरह दक़ियानूसी मुसलमानों को लगता था कि उर्दू के रूमानी अफ़साने पढ़कर औरतें बिगड़ जाएँगी। कभी-कभार बाग़ी औरतों ने इन प्रतिबंधों को अस्वीकार भी किया। हमें उत्तर भारत के दक़ियानूसी मुसलमान परिवार की एक ऐसी लड़की की कहानी पता है, जिसने गुपचुप ढंग से न सिर्फ़ पढ़ना सीखा, बल्कि लिखा भी। उसके खानदान वाले चाहते थे कि वह सिर्फ़ अरबी कुरान पढ़े, जो कि उसके पल्ले नहीं पड़ता था। लिहाज़ा उसने वह ज़बान पढ़ने की ज़िद की, जो उसकी अपनी थी। पूर्वी बंगाल में, उन्नीसवीं सदी के प्रारंभ में, कट्टर रूढ़िवादी परिवार में ब्याही कन्या रशसुन्दरी देबी ने रसोई में छिप-छिप कर पढ़ना सीखा। बाद में चलकर उन्होंने *आमार जीबन* नामक आत्मकथा लिखी, जो 1876 में प्रकाशित हुई। यह बंगाली भाषा में प्रकाशित पहली संपूर्ण आत्म-कहानी थी।

चूँकि सामाजिक सुधारों और उपन्यासों ने पहले ही नारी जीवन और भावनाओं में दिलचस्पी पैदा कर दी थी, इसलिए महिलाओं द्वारा लिखी जा रही आपबीती के प्रति कुतूहल तो था ही।

कैलाशबाशिनी देवी जैसी महिलाओं ने 1860 के दशक से महिलाओं के अनुभवों पर लिखना शुरू किया–कैसे वे घरों में बंदी और अनपढ़ बनाकर रखी जाती हैं, कैसे वे घर-भर के काम का बोझ उठाती हैं, और जिनकी सेवा वे करती हैं, वही उन्हें कैसे दुत्कारते हैं। आज जो महाराष्ट्र है वहाँ 1880 के दशक में ताराबाई शिंदे और पंडिता रमाबाई ने उच्च जाति की नारियों की दयनीय हालत के बारे में जोश और रोष से लिखा। सामाजिक बंधनों में बँधी औरत के लिए पढ़ने के क्या मायने हैं, इस पर एक तमिल उपन्यास में एक औरत ने लिखा, 'बहुतेरे कारणों से मेरी दुनिया छोटी है... मेरे जीवन की आधी से ज़्यादा खुशियाँ किताबें पढ़ने से आई हैं...।

उर्दू, तमिल, बंगाली और मराठी प्रिंट-संस्कृति पहले विकसित हो गई थी, पर गंभीर हिंदी छपाई की शुरुआत 1870 के दशक से ही हुई। जल्द ही इसका एक बड़ा हिस्सा नारी-शिक्षण को समर्पित हुआ। बीसवीं सदी के आरंभ में महिलाओं के लिए मुद्रित, और कभी-कभी उनके द्वारा संपादित पत्रिकाएँ

चित्र 18 – इंडियन शारिवारी का आवरण पृष्ठ।
इंडियन शारिवारी उन्नीसवीं सदी के अंत में प्रकाशित होने वाले व्यंग्य और विद्रूप (कैरिकेचर) विधा के कई पत्रों में से एक था।
ग़ौर करें कि साम्राज्यवादी अंग्रेज़ की छवि ठीक बीचोबीच है। सत्ता और प्रभुता की प्रतिमूर्ति बना वह देसी लोगों को, वे क्या करें, क्या नहीं, इसकी हिदायत दे रहा है। उसके दोनों ओर बैठे देसीजन ग़ुलामों की नत मुद्रा में हैं। भारतीयों को व्यंग्य-चित्रों के अंग्रेज़ी पत्र, द पंच दिखाया जा रहा है। ऐसा लगता है जैसे ब्रिटिश मालिक कह रहा हो, 'यही सही मॉडल है, जाओ जाकर इसके भारतीय संस्करण निकालो।'

स्रोत-ङ

जानी-मानी शिक्षाविद और लेखिका बेगम रोकैया शेखावत हुसैन ने 1926 में, बंग महिला शिक्षा सम्मेलन को संबोधित करते हुए, धर्म के नाम पर महिलाओं को पढ़ने से रोकने के लिए पुरुषों की निंदा की–

'नारी-शिक्षा के विरोधी कहते हैं कि इससे महिलाएँ उद्दंड हो जाएँगी...

'छि:! ये खुद को मुसलमान बताते हैं, और इस्लाम द्वारा औरतों को बराबरी की तालीम का हक़ देने के बुनियादी उसूल के ख़िलाफ़ जाते हैं। अगर पुरुष पढ़-लिखकर नहीं भटकते, तो महिलाएँ क्यों बिगड़ जाएँगी, भला?'

स्रोत

© NCERT not to be republished
2019-20

लोकप्रिय हो गईं। इनमें औरतों की तालीम, विधवा-जीवन, विधवा-विवाह और राष्ट्रीय आंदोलन जैसे मसलों पर लेखनी चलाई गई। कुछ पत्रिकाओं ने महिलाओं को गृहस्थी चलाने और फ़ैशन के नुस्खे बताने के साथ-साथ कहानियों और धारावाहिक उपन्यासों के ज़रिए मनोरंजन परोसा।

पंजाब में भी बीसवीं सदी के आरंभ से ही लोकप्रिय लोक साहित्य बड़े पैमाने पर छापा गया। राम चड्ढा ने औरतों को आज्ञाकारी बीवियाँ बनने की सीख देने के उद्देश्य से अपनी बेस्ट-सेलिंग कृति *स्त्री धर्म विचार* लिखी। खालसा ट्रैक्ट सोसायटी (खालसा पुस्तिका सभा) ने इसी तरह के संदेश देते हुए सस्ती पुस्तिकाएँ छापीं। अच्छी औरत बनने के उपदेश को कई बार संवाद के रूप में पेश किया गया।

बंगाल में केंद्रीय कलकत्ता का एक पूरा इलाक़ा-बटाला-लोकप्रिय किताबों के प्रकाशन को समर्पित हो गया। यहाँ पर आप धार्मिक गुटकों और ग्रंथों के सस्ते संस्करण तो खरीद ही सकते थे, जो आमतौर पर अश्लील और सनसनीखेज़ समझा जाता था, वह भी उपलब्ध था। उन्नीसवीं सदी के अंत तक, ऐसी बहुत सारी किताबों पर काठ की तख़्ती और लिथोग्राफ़ी रंगों की मदद से प्रचुर मात्रा में तसवीरें उकेरी जा रही थीं। फेरीवाले बटाला के प्रकाशन लेकर घर-घर घूमते थे, जिससे महिलाओं को फ़ुर्सत के वक़्त मनपसंद किताबें पढ़ने में सहूलियत हो गई।

चित्र 19 - घोर कलि (प्रलयकाल), उन्नीसवीं सदी के अंत का रंगीन काष्ठचित्र।
पारिवारिक संबंधों के नष्ट-भ्रष्ट होने की कल्पना। पत्नी, जैसा कि मुहावरे में कहा जाता है, पति के सिर पर सवार है। और वह खुद अपनी माँ को ज़ंजीर पहनाकर जानवरों की तरह रखता है।

8.2 प्रिंट और ग़रीब जनता

उन्नीसवीं सदी के मद्रासी शहरों में काफ़ी सस्ती किताबें चौक-चौराहों पर बेची जा रही थीं, जिसके चलते ग़रीब लोग भी बाज़ार से उन्हें ख़रीदने की

चित्र 20 – एक भारतीय दंपति, सफ़ेद-स्याह काष्ठचित्र
इसमें कलाकार का यह डर उजागर होता है कि पश्चिमी हमले से पारिवारिक व्यवस्था उलट-पुलट गई है। मर्द वीणा बजा रहा है, और औरत हुक्का खींच रही है। उन्नीसवीं सदी में महिलाओं की शिक्षा की पहल के बाद पारंपरिक पारिवारिक भूमिकाओं के छिन्न-भिन्न हो जाने की आशंका तेज़ हो गई।

चित्र 21 – एक यूरोपीय दंपति, उन्नीसवीं सदी का काष्ठचित्र
इस तसवीर में पारंपरिक भूमिकाओं का निरूपण है। साहब शराब की बोतल थामे हैं, और मेमसाहब वायलिन बजा रही हैं।

स्थिति में आ गए थे। बीसवीं सदी के आरंभ से सार्वजनिक पुस्तकालय खुलने लगे थे, जिससे किताबों की पहुँच निस्संदेह बढ़ी। ये पुस्तकालय अकसर शहरों या क़स्बों में होते थे, या यदा-कदा संपन्न गाँवों में भी। स्थानीय अमीरों के लिए पुस्तकालय खोलना प्रतिष्ठा की बात थी।

उन्नीसवीं सदी के अंत से जाति-भेद के बारे में तरह-तरह की पुस्तिकाओं और निबंधों में लिखा जाने लगा था। 'निम्न-जातीय' आंदोलनों के मराठी प्रणेता ज्योतिबा फुले ने अपनी *गुलामगिरी* (1871) में जाति प्रथा के अत्याचारों पर लिखा। बीसवीं सदी के महाराष्ट्र में भीमराव अंबेडकर और मद्रास में ई.वी. रामास्वामी नायकर ने, जो पेरियार के नाम से बेहतर जाने जाते हैं, जाति पर ज़ोरदार क़लम चलाई और उनके लेखन पूरे भारत में पढ़े गए। स्थानीय विरोध आंदोलनों और संप्रदायों ने भी प्राचीन धर्मग्रंथों की आलोचना करते हुए, नए और न्यायपूर्ण समाज का सपना बुनने की मुहिम में लोकप्रिय पत्र-पत्रिकाएँ और गुटके छापे।

कारखानों में मज़दूरों से बहुत ज़्यादा काम लिया जा रहा था, और उन्हें अपने तजुर्बों के बारे में ढंग से लिखने की शिक्षा तक नहीं मिली थी। लेकिन कानपुर के मिल-मज़दूर काशीबाबा ने 1938 में *छोटे और बड़े सवाल* लिख और छाप कर जातीय तथा वर्गीय शोषण के बीच का रिश्ता समझाने की कोशिश की। 1935 से 1955 के बीच सुदर्शन चक्र के नाम से लिखने वाले एक और मिल-मज़दूर का लेखन *सच्ची कविताएँ* नामक एक संग्रह में छापा गया। बंगलौर के सूती-मिल-मज़दूरों ने ख़ुद को शिक्षित करने के ख़याल से पुस्तकालय बनाए, जिसकी प्रेरणा उन्हें बंबई के मिल-मज़दूरों से मिली थी। समाज-सुधारकों ने इन प्रयासों को संरक्षण दिया। उनकी मूल कोशिश यह थी कि मज़दूरों के बीच नशाख़ोरी कम हो, साक्षरता आए, और उन तक राष्ट्रवाद का संदेश भी यथासंभव पहुँचे।

गतिविधि

चित्र 19, 20 और 21 को गौर से देखें।

- समाज में हो रहे बदलाव को लेकर चित्रकार क्या कह रहा है?
- वे कौन से बदलाव हो रहे थे, कि चित्रकार ने ऐसी प्रतिक्रिया दी?
- क्या आप चित्रकार के मत से सहमत हैं?

चित्र 22 - लक्ष्मीनाथ बेज़बरुवा (1868-1938)

वे आधुनिक असमिया साहित्य के एक वरिष्ठ रचनाकार थे। *बूढ़ी आइर साधु (दादी की कहानियाँ)* उनकी उल्लेखनीय किताबों में से है। उन्होंने असम का लोकप्रिय गीत 'ओ मोर अपुनर देश' (ओ मेरी प्यारी भूमि) भी लिखा।

9 प्रिंट और प्रतिबंध

ईस्ट इंडिया कंपनी के तहत 1798 से पहले का औपनिवेशिक शासन सेंसरशिप या पाबंदी लगाने के बारे में ज़्यादा परेशान नहीं था। मज़ेदार बात तो यह है कि मुद्रित सामग्री को नियंत्रित करने के इसके शुरुआती क़दम कंपनी के कुप्रशासन की आलोचना करने वाले और कंपनी के हुक्मरानों के काम को कोसने वाले अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ उठे। कंपनी को इस बात की चिंता थी कि इन आलोचनाओं का लाभ उठाकर इंग्लैंड में बैठे इनके निंदक कहीं भारत पर इनके व्यापारिक एकाधिकार पर हमला न बोल दें।

कलकत्ता सर्वोच्च न्यायालय ने 1820 के दशक तक प्रेस की आज़ादी को नियंत्रित करने वाले कुछ क़ानून पास किए, और कंपनी ने ब्रितानी शासन का उत्सव मनाने वाले अख़बारों के प्रकाशन को प्रोत्साहन देना चालू कर दिया। अंग्रेज़ी और देसी भाषाओं के अख़बार-संपादकों द्वारा गुहार और अर्ज़ी लगाने के बाद 1835 में गवर्नर जेनरल बेंटिंक प्रेस क़ानून की पुनर्समीक्षा करने के लिए राज़ी हो गया। फिर उदारवादी औपनिवेशिक अफ़सर टॉमस मेकॉले ने पहले की आज़ादियों को बहाल करते हुए नए क़ानून बनाए।

1857 के विद्रोह के बाद प्रेस की स्वतंत्रता के प्रति रवैया बदल गया। क्रुद्ध अंग्रेज़ों ने 'देसी' प्रेस का मुँह बंद करने की माँग की। ज्यों-ज्यों भाषाई समाचार पत्र राष्ट्रवाद से समर्थन में मुखर होते गए, त्यों-त्यों औपनिवेशिक सरकार में कड़े नियंत्रण के प्रस्ताव पर बहस तेज़ होने लगी। आइरिश प्रेस कानून के तर्ज़ पर 1878 में वर्नाक्युलर प्रेस एक्ट लागू कर दिया गया। इससे सरकार को भाषाई प्रेस में छपी रपट और संपादकीय को सेंसर करने का व्यापक हक़ मिल गया। अब से सरकार ने विभिन्न प्रदेशों से छपने वाले भाषाई अख़बारों पर नियमित नज़र रखनी शुरू कर दी। अगर किसी रपट को बाग़ी करार दिया जाता था तो अख़बार को पहले चेतावनी दी जाती थी, और अगर चेतावनी की अनसुनी हुई तो अख़बार को ज़ब्त किया जा सकता था और छपाई की मशीनें छीन ली जा सकती थीं।

लेकिन दमन की नीति के बावजूद राष्ट्रवादी अख़बार देश के हर कोने में बढ़ते-फैलते गए। उन्होंने औपनिवेशिक कुशासन की रिपोर्टिंग और राष्ट्रवादी ताक़तों की हौसला-अफज़ाई जारी रखी। राष्ट्रवादी आलोचना को खामोश करने की तमाम कोशिशों का उग्र विरोध हुआ। जब पंजाब के क्रांतिकारियों को 1907 में कालापानी भेजा गया तो बालगंगाधर तिलक ने अपने *केसरी* में उनके प्रति गहरी हमदर्दी जताई। नतीजे के तौर पर उन्हें 1908 में क़ैद कर लिया गया, जिसके परिणामस्वरूप भारत-भर में व्यापक विरोध हुए।

बॉक्स 4

कभी-कभी वफ़ादार अख़बारों के संपादक खोजना सरकार के लिए मुश्किल हो जाता था। जब 1877 में स्थापित अख़बार *स्टेट्समैन* के संपादक-पद के लिए सैंडर्स को बुलया गया तो उसने पूछा कि आज़ादी खोने के बदले उसे कितने पैसे मिलेंगे। *द फ्रेंड ऑफ़ इंडिया* ने सरकारी मदद लेने से इसलिए इनकार कर दिया कि इससे उसे सरकारी आदेश मानने के लिए मजबूर होना पड़ेगा।

बॉक्स 5

मुद्रित शब्द की ताक़त का अंदाज़ा अकसर सरकार द्वारा उसको नियंत्रित करने की कोशिशों से मिलता है। औपनिवेशिक प्रशासन हमेशा तमाम किताबों और पत्र-पत्रिकाओं पर नज़र रखता था।

पहले विश्वयुद्ध के दौरान, भारतीय रक्षा नियम के तहत, 22 अख़बारों को ज़मानत देनी पड़ी थी। इनमें से 18 ने सरकारी आदेश मानने की जगह खुद को बंद कर देना उचित समझा। रॉलट के अधीन कार्यरत षड्यंत्र समिति ने 1919 में विभिन्न अख़बारों के ख़िलाफ जुर्माना आदि कार्रवाइयों को और सख़्त बना दिया। द्वितीय विश्वयुद्ध की शुरुआत पर, भारतीय रक्षा अधिनियम पारित किया गया, ताकि युद्ध-संबंधी विषयों को सेंसर किया जा सके। भारत छोड़ो आंदोलन से जुड़ी तमाम रपटें इसी के तहत सेंसर होती थीं। अगस्त 1942 में तक़रीबन 90 अख़बारों का दमन किया गया।

स्रोत-च

गांधी ने 1922 में कहा–

'वाणी की स्वतंत्रता.... प्रेस की आज़ादी.... सामूहिकता की आज़ादी। भारत सरकार अब जनमत को व्यक्त करने और बनाने के इन तीन ताक़तवर औज़ारों को दबाने की कोशिश कर रही है। स्वराज, ख़िलाफत... की लड़ाई, सबसे पहले तो इन संकटग्रस्त आज़ादियों की लड़ाई है।'

स्रोत

© NCERT not to be republished

संक्षेप में लिखें

1. निम्नलिखित के कारण दें–
   (क) वुडब्लॉक प्रिंट या तख़्ती की छपाई यूरोप में 1295 के बाद आई।
   (ख) मार्टिन लूथर मुद्रण के पक्ष में था और उसने इसकी खुलेआम प्रशंसा की।
   (ग) रोमन कैथलिक चर्च ने सोलहवीं सदी के मध्य से प्रतिबंधित किताबों की सूची रखनी शुरू कर दी।
   (घ) महात्मा गांधी ने कहा कि स्वराज की लड़ाई दरअसल अभिव्यक्ति, प्रेस, और सामूहिकता के लिए लड़ाई है।
2. छोटी टिप्पणी में इनके बारे में बताएँ–
   (क) गुटेन्बर्ग प्रेस
   (ख) छपी किताब को लेकर इरैस्मस के विचार
   (ग) वर्नाक्युलर या देसी प्रेस एक्ट
3. उन्नीसवीं सदी में भारत में मुद्रण-संस्कृति के प्रसार का इनके लिए क्या मतलब था–
   (क) महिलाएँ
   (ख) ग़रीब जनता
   (ग) सुधारक

संक्षेप में लिखें

© NCERT not to be republished

चर्चा करें

1. अठारहवीं सदी के यूरोप में कुछ लोगों को क्यों ऐसा लगता था कि मुद्रण संस्कृति से निरंकुशवाद का अंत, और ज्ञानोदय होगा?
2. कुछ लोग किताबों की सुलभता को लेकर चिंतित क्यों थे? यूरोप और भारत से एक-एक उदाहरण लेकर समझाएँ।
3. उन्नीसवीं सदी में भारत में ग़रीब जनता पर मुद्रण संस्कृति का क्या असर हुआ?
4. मुद्रण संस्कृति ने भारत में राष्ट्रवाद के विकास में क्या मदद की?

चर्चा करें

परियोजना कार्य

पिछले सौ सालों में मुद्रण संस्कृति में हुए अन्य बदलावों का पता लगाएँ। फिर इनके बारे में यह बताते हुए लिखें कि ये क्यों हुए और इनके कौन से नतीजे हुए?

परियोजना कार्य